

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' जी के आध्यात्मिक लेखों का संकलन

खण्ड - 1 : साधनोपयोगी आध्यात्मिक लेख

खण्ड - 2 : विवेक बिन्दु एवं मधु बिन्दु

खण्ड - 3 : भावराज्य

खण्ड - 4 : झाँकी (दिव्य दर्शन की झलकियाँ)

खण्ड - 5 : विविध

संकलनकर्ता :

डॉ. बालचन्द्रिका पाठक



(इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को छापने तथा
अनूदित करने की सबको स्वतन्त्रता है।)

श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' जी के आध्यात्मिक लेखों का संकलन

लेखक	:	गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'
संरक्षक	:	हनुमद्भाम श्रीराम आध्यात्मिक प्रन्यास शुकतीर्थ, जिला-मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) पिन-251316
प्रकाशक	:	डॉ. बालचन्द्रिका पाठक श्रीराम निकुञ्ज, प्रेमनगर एटा (उ.प्र.) मोबाइल : 9012218617, 7668312842
संस्करण	:	प्रथम, सं. 2076 (सन् 2020)
प्रकाशन तिथि	:	मकर संक्रान्ति पर्व
मूल्य	:	140/-
मुद्रण	:	आशीष प्रिण्टर्स 173/350, चामुण्डा कॉलोनी, मथुरा मोबाइल : 8630464909, 9258046104 ई-मेल : printersashish@gmail.com

यह पुस्तक कोई भी प्रकाशित करा सकता है।

प्राक्कथन

श्रीवृन्दावनधाम के एक साधक से भाई प्रभात दीक्षित जी, दिल्ली के द्वारा भगवद्, विषयक जिज्ञासा प्रगट करने पर उन साधक ने कहा-“यदि सचमुच तुम्हें श्रीकृष्ण प्राप्ति की ललक है तो श्रीचक्र जी का आध्यात्मिक साहित्य पढ़ो, अवश्य तुम ब्रजरस का आस्वादन करते हुए लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हो।” जैसे-जैसे ये साहित्य पढ़ते गये, वैसे-वैसे इन्हें अपने अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान मिलता गया। शंकाओं और जिज्ञासाओं का निराकरण होता गया और अन्तःकरण श्रीकृष्ण-प्रेम की भाव लहरियों से झंकृत हो गया।

इन्हीं पुनीत भावों से भावित होकर इनके भावुक हृदय में भाव जगे कि जिस आनन्द का रसास्वादन मैं कर रहा हूँ उससे मेरे आध्यात्म पथ के भाई-बहन, स्वजन एवं अन्य सहृदय पाठकगण क्यों वंचित रहें? इस आलोकवाही साहित्य को पढ़कर साधकों का अन्तर भी बहिर्मुख न होकर अन्तर्यामी की ओर उन्मुख होता रहे, उन्हें भी भगवद् लीलाओं को देखने-समझने की नई दृष्टि प्राप्त होती रहे, वे भी नाम, रूप, गुण, लीला, धाम के चिन्तन में निमग्न होकर मानव जीवन सार्थक करें।

भाई प्रभात जी के ऐसे सद्विचार मुझे श्लाघनीय लगे। इन्हीं की सत्प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने श्रीचक्र जी द्वारा सम्पादित श्रीकृष्ण जन्मस्थान मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'श्रीकृष्ण सन्देश' के (वर्ष 1976 से 1989) चतुर्दश वर्षों के अंकों से उनके द्वारा लिखे गये स्वतंत्र आध्यात्मिक लेख, विवेक-बिन्दु, मधु-बिन्दु, भावराज्य, झाँकी (दिव्य दर्शन की झलकियाँ) एवं अन्य विविध लेखों का संकलन करके उन्हें पुस्तकाकार रूप दिया है।

भाई प्रभात जी ने इन लेखों को क्रमवद्ध रूप दिया है एवं विषयानुसार पाँच खण्डों में पूरी पुस्तक को विभाजित किया है। पुस्तक की प्रूफ रीडिंग करते हुए तन-मन-धन से असीम सहयोग प्रदान किया है, जिसकी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

श्रीचक्रजी के बहुत से गंभीर पाठकों का यह अनुभव रहा है कि “श्रीचक्र साहित्य पढ़ते-पढ़ते मन वृन्दावन हो जाता है। चित्त को भौतिक सम्पर्क से हटाकर आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचा देने की क्षमता इनके साहित्य में है।”

महापुरुषों की वाणी हम जैसे सामान्य जनों को सत्पथ का निर्देश कर लक्ष्य को दिग्दर्शित कराने में सहायक होती है।

इन लेखों को पढ़कर साधक और पाठक अपना परमार्थ-पथ प्रशस्त कर सकेंगे, यही आशा एवं सद्भावना है।

भक्तवत्सल प्रभु से यही प्रार्थना है कि मुझ जैसी अल्पज्ञ के लघु प्रयास से श्रेयपथगामी साधक प्रभु के चरण-कमल मकरन्द रस का आस्वादन करते हुए मानव जीवन को सार्थक करें, इसी कामना के साथ श्रीचक्र जी के कन्हाई के स्वजनों को यह पुस्तक समर्पित है।

श्री चक्रचरणाश्रिता
डा. बालचन्द्रिका पाठक

.....

मलूक पीठाधीश्वर
देवाचार्य श्री राजेन्द्रदास जी महाराज, वृन्दावन
द्वारा अर्पित
भावपुष्पाञ्जलि

परमभागवत श्री चक्र जी जीवन को लाहौ लियो।

सूर्यवंश में प्रकट संत कुल कमल दिवाकर,
श्री हरि-हर यश गाय किये पार भव नारि-नर।

जीवाचार्य शेष दाऊ सद्गुरु बन आये,
अनुज भये श्री कृष्ण लाड़ दादा को पाये।

श्री शुकतीर्थ गङ्गा तट हनुमद् संस्थापन कियो,
परमभागवत श्री चक्रजी जीवन को लाहौ लियो।

.....

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृ०सं०
खण्ड-1 : आध्यात्मिक लेख		
1.	विरक्ति और बुद्धिमानी	1
2.	आहार-शुद्धि	2
3.	आचार-शुद्धि	3
4.	महत्त्व के दोष	4
5.	दोषों को कैसे जीतें?	6
6.	आपकी स्वतन्त्रता?	9
7.	जब आप अपने को ठगते हैं	10
8.	आपकी मानसिक परेशानियाँ क्यों?	12
9.	परमार्थ के लिये-	
	(i) ठीक चाहना सीखिये	14
	(ii) श्रद्धा करना सीखिये	14
	(iii) मार्गदर्शक चुनना सीखिये	15
10.	अति से बचना है	16
11.	अनिवार्य संयम	17
12.	साधन	20
13.	सुलभ साधन	21
14.	सुगम साधन	22
15.	गुरु बनाना आवश्यक है?	24
16.	उचित गुरु कैसे मिले	26
17.	परमगुरु	27
18.	मृत्यु की स्मृति	28
19.	मानसिक पूजा	29
20.	उपासना में भगवत्प्रेरणा	31
21.	समदृष्टि	34
22.	आपकी महत्त्व—बुद्धि कहाँ है?	35
23.	ये छोटी बातें	36

24.	लोक सेवा	39
25.	लोक-कल्याण कौन करेगा?	42
26.	प्रभु का प्रसाद	45
27.	प्रार्थना विश्वास के साथ	45
28.	गंगा की पावनता	46
29.	रामाय रामभद्राय	47
30.	त्रिपुरारि	48
31.	डरता वह है जो बुरा करता है	52
32.	नारी का धर्म और परमार्थ	53
33.	नारी और अध्यात्म	55
34.	नारी और साधन	58
35.	गीता का मुख्य बिन्दु	60
36.	देहाध्यास कैसे छूटे?	63
37.	आज के ये सत्संग	66
38.	जब सत्संग भी कुसंग होता है	69
39.	सिद्ध पुरुष	72
40.	सचमुच महापुरुष	74
41.	भगवद्दर्शन का भ्रम	75
42.	भगवद्दर्शन	76
43.	सहज, सरल और सजग समाधि	77
44.	कन्हाई कब मिलता है?	81
45.	मोक्ष क्या है?	82

खण्ड-2 : विवेक बिन्दु एवं मधु बिन्दु

46.	विवेक-बिन्दु : 1	84
47.	विवेक-बिन्दु : 2	84
48.	विवेक-बिन्दु : 3	85
49.	विवेक-बिन्दु : 4	86
50.	विवेक-बिन्दु : 5	87
51.	विवेक-बिन्दु : 6	88
52.	विवेक-बिन्दु : 7	89

53.	विवेक-बिन्दु : 8	90
54.	विवेक-बिन्दु : 9	92
55.	विवेक-बिन्दु : 10	93
56.	विवेक-बिन्दु : 11	94
57.	विवेक-बिन्दु : 12	96
58.	विवेक-बिन्दु : 13	98
59.	विवेक-बिन्दु : 14	99
60.	मधु-बिन्दु : 1	99
61.	मधु-बिन्दु : 2	100
62.	मधु-बिन्दु : 3	102
63.	मधु-बिन्दु : 4	102

खण्ड-3 : भावराज्य

64.	भावराज्य-1 (होगा क्या?)	104
65.	भावराज्य-2 (दाऊ का उपहार)	107
66.	भावराज्य-3 (मत आओ)	114
67.	भावराज्य-4 (उस पार)	117
68.	भावराज्य-5 (आकुलता में)	120
69.	भावराज्य-6 (बड़ा बनूँगा)	123
70.	भावराज्य-7 (गोबर लगाऊँगा)	126
71.	भावराज्य-8 (चित्रकार)	127
72.	भावराज्य-9 (व्यर्थ)	131
73.	भावराज्य-10 (फिर कभी नहीं)	134
74.	भावराज्य-11 (तुम्हारा ग्वारिया)	137

खण्ड-4 : झाँकी

75.	झाँकी-1 (पाद-संवाहन)	140
76.	झाँकी-2 (दीन-बन्धु)	142
77.	झाँकी-3 (गजेन्द्र मोक्ष)	143
78.	झाँकी-4 (पार्थ सारथी)	144
79.	झाँकी-5 (पक्षी की पीर)	146

80.	झाँकी-6 (वीणा-वादिनी)	147
81.	झाँकी-7 (महालक्ष्मी)	148
82.	झाँकी-8 (निषाद के सखा)	149
83.	झाँकी-9 (माँ का वात्सल्य)	150
84.	झाँकी-10 (गुरु पूर्णिमा)	151
85.	झाँकी-11 (गुरु-दीक्षा)	153
86.	झाँकी-12 (गुरु-पूजा)	154
87.	झाँकी-13 (चरण-चिह्नासक्ति)	156
88.	झाँकी-14 (दयामय)	158
89.	झाँकी-15 (सदाशिव की सदाशयता)	159
90.	झाँकी-16 (परात्पर नारायण)	161
91.	झाँकी-17 (क्षीरशायी)	163
92.	झाँकी-18 (बीरबहूटी)	164
93.	झाँकी-19 (करुणानिधान)	166
94.	झाँकी-20 (होली)	168
95.	झाँकी-21 (पिपासा पारखी)	169
96.	झाँकी-22 (शशांक शेखर का दूल्हा रूप)	171
97.	झाँकी-23 (बालक का उन्मुक्त आग्रह)	172
98.	झाँकी-24 (आद्या परमेश्वरी का क्रोध शमन)	173
	खण्ड-5 : विविध	
99.	भक्तिपूरक सूत्र	176
100.	अद्भुत अनुभव	180
101.	सीता-कुण्ड	181
102.	महामानव (दैत्यराज) के उद्गार	185
103.	पाठ	187
104.	हम सीख सकते हैं	192
105.	रक्षक के लम्बे हाथ	195
106.	दही खाऊँगा	197
107.	शूक का दलदल	198
108.	दुःख का आशीर्वाद	199

खण्ड-1 : आध्यात्मिक लेख

विरक्ति और बुद्धिमानी

साधक में वैराग्य होना चाहिए और वैराग्यवान् का नाम विरक्त है। वैराग्य और राग में परस्पर विरोध है। संसारी व्यक्ति में राग-द्वेष होता है; क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ द्वेष अनिवार्य रूप से रहेगा। ये मधु-कैटभ सगे भाई हैं। दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ मरते हैं। इनमें से एक को छोड़ दें और एक रहे, ऐसा नहीं हो सकता।

जब एक व्यक्ति, वस्तु, क्रिया अथवा स्थिति से राग होगा, तब उसे दुःख देने वाले, नष्ट करने वाले, बिगाड़ने वाले, उसकी निन्दा करने वाले से द्वेष होगा ही।

वैराग्य इन राग-द्वेष दोनों का विरोधी है। साधक का राग साधन में होता है। इस राग का नाम हो जाता है निष्ठा और साधक का द्वेष होता है साधन से विमुक्त करने वाली हर बात से। विषय-चिन्तन, विषय-चर्चा अर्थात् बहिर्मुखता मात्र से उसे द्वेष होता है। इस द्वेष का नाम होता है वैराग्य।

इसका अर्थ है कि साधक वह है जिसका राग-द्वेष कच्चा नहीं है। संसार में होने वाला राग-द्वेष कच्चा होता है। कच्चा फल खट्टा होता है, विकार उत्पन्न करता है। संसार में राग-द्वेष हृदय को विकृत करता है और अन्तःकरण की समता को बिगाड़ता है। यही राग-द्वेष जब परिपक्व हो जाता है तो उसका नाम साधन-निष्ठा और वैराग्य हो जाता है। पका फल स्वास्थ्य, बल को बढ़ाता है और मधुर होता है। इसी प्रकार साधन-निष्ठा और वैराग्य मन के विकार को—मनोरोगों को दूर करने वाले हैं। मानसिक बल को बढ़ाने वाले हैं। मधुर हैं अर्थात् शान्तिदायी हैं।

वैराग्य आप में नहीं है तो इसका अर्थ है कि आप में अभी विवेक की कमी है। सत्सङ्ग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन और संयम का विचार, ये तीनों यदि ठीक-ठीक होंगे तो राग-द्वेष का दुःखद रूप प्रकट हुए बिना रह नहीं सकता।

साधक में—ठीक साधक में वैराग्य से भी बड़ी एक वस्तु होती है और वह होती है बुद्धिमानी। वैराग्य तो राग-द्वेष का विरोधी है; किन्तु बुद्धिमानी

केवल मूर्खता, अज्ञान की विरोधिनी है। आप कह सकते हैं कि 'राग मुझे पसन्द है।' अमुक अवस्था में द्वेष भी आपको आवश्यक लग सकता है; किन्तु मूर्खता किसी अवस्था में आपको उपयोगी लगती है? किसी को मूर्खता-अज्ञान पसन्द आ सकता है?

साधक वह उत्तम है, वह स्थिर आधार पर और अविचलित है, जो बुद्धिमानी को अपनाता है। अर्थात् जिसे तनिक भी मूर्खता किसी विषय में पसन्द नहीं है।

अब आप देखिये कि आप जो संग्रह करते हैं, जो खाते-पहनते हैं, जो भोगते हैं, जो करते हैं, वह सब नितान्त आवश्यक है अथवा उसका अमुक भाग छोड़ दिया जा सकता है। उसे आपने बिना सोचे या 'लोग क्या कहेंगे' इस झूठी आशङ्का से अपना रखा है।

मैंने देखा है—घरों में शीशियाँ, कीलें, कार्क और दूसरे रद्दी सामान लोग इकट्ठे कर ले जाते हैं कि—'कभी इनका काम पड़ेगा।' किन्तु जब काम पड़ता है, तब या तो वे वस्तुएँ मिलती नहीं या उनको ढूँढ़ने में इतना समय और श्रम नष्ट होता है, जो उनके मूल्य से बहुत अधिक है।

गर्मियों में ऊनी सूट पहनना क्या है? आप बाजार जाते हैं तो क्या लोग आपकी दाढ़ी कितनी बढ़ी है, यह देखते हैं? घरों में कपड़े पेटियों में, आल्मारियों में भरे हैं और नये खरीदे जा रहे हैं। अपने पुत्रों के भी जीवन भर को धन पर्याप्त है और कमाई में भजन को अवकाश नहीं है। यह सब मनुष्य को बुद्धिमान् कहने के लक्षण हैं? अतः वैराग्य न अपना सके तो बुद्धिमान् तो बनें। अनावश्यक संग्रह, भोग, उपार्जन, चिन्तन, चर्चा से दूर हो जायें तो आप बुद्धिमान्।

आहार-शुद्धि

‘सर्वेषामेव शौचनामर्थं शौचः परं स्मृतम्।

योऽर्थेहि शुचि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥—मनु

सब पवित्रताओं में मुख्य पवित्रता धन की पवित्रता है। जिसका धन पवित्र है, वह पवित्र है। केवल मिट्टी-पानी से शरीर को पवित्र रखने वाला पवित्र नहीं है।

चौके-चूल्हे की पवित्रता बहुत लोग रखते हैं। क्या खाना और क्या नहीं खाना इसका विचार भी प्रायः साधक रखते हैं और इसका महत्त्व नहीं है, यह बात

भी नहीं है। इसका भी महत्त्व है; किन्तु उतना महत्त्व नहीं है, जितना माना जाता है।

वस्तुओं के उपयोग सम्बन्धी पवित्रता इस युग में पूरी निभाई नहीं जा सकती। टिकट-लिफाफे आदि पर सरेस लगता है और सरेस कसाई खानों में प्राप्त पदार्थों से बनता है। यह सरेस रबड़ के जूतों में, अनेक प्रकार के पालिश में, वार्निश में, यहाँ तक कि चित्रों के पालिश में, चावल के पालिश में उपयोग किया जाता है। इससे कोई बच नहीं पाता।

दवाइयों के कैप्सूल जिलेटिन से बनते हैं। जिलेटिन बनता है उसी कसाई खाने के पदार्थों से और बिस्कुटों में भी पड़ता है। दवाइयों में स्पिरिट (शराब) पड़ती है। बिना स्पिरिट के होम्योपैथिक दवा बनती ही नहीं है।

‘काचीनोल’ रङ्ग एक प्रकार के कीणों को मशीन में पीसकर दखिण अमेरिका में निकाला जाता है। यह चटक लाल रङ्ग है। चमकदार उत्तम लिपिस्टक, रूज, नेलपालिश इससे बनती है।

प्रायः साबुनों में चर्बी पड़ती है। नलों में चमड़ा लगा होता है। अन्न और शाक गन्दगी की खाद देकर उत्पन्न किये जाते हैं। अब ऐसे युग में कितनी आहार शुद्धि आप रख सकते हैं?

बहुत श्रम करके, बड़ी कठिनाई उठाते हुए आप शुद्धाहार जुटा लें तो? तब भी आप आहार शुद्धि के मूल तत्त्व से तब तक वञ्चित हैं, जब तक उस आहार को शुद्ध पैसे से न पाया हो।

मुख्य बात है कि धन शुद्ध हो—कमाई ईमानदारी की हो। पूरा श्रम करके सच्चाई से आपने धन कमाया है तो उसका अन्न शुद्ध है। वह इतना शुद्ध है कि छोटे-मोटे बाहरी दोषों को पचाया जा सकता है। अतः साधक को शुद्ध कमाई के आहार पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

आचार-शुद्धि

वह ठग है जो कहता है—‘तुम चाहे जो करो, चाहे जो खाओ-पीओ, चाहे जैसे रहो, मेरे पास आओ! मैं तुम्हें समाधि लगवा दूँगा। मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।’

ऐसे लोग चाहे जितने विद्वान हों और चाहे जितने प्रसिद्ध हों, उनसे दूर रहने में ही साधक का हित है।

‘योगश्चित्तवृत्ति निरोध’ चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहलाता

हैं। वृत्तियों का थोड़ी दूर रुक जाना योग नहीं है' वृत्तियाँ रुक तो निद्रा में भी जाती हैं, नशे में भी और मूर्छा में भी; किंतु इस रुकने का नाम योग—समाधि-वृत्ति निरोध नहीं है। वृत्तियों को चंचल करने वाली वासना का बीज नष्ट होने पर वृत्तिका शान्त हो जाना निरोध है।

वृत्ति चञ्चल हुए बिना, शरीर एवं इन्द्रियों के भोगों में आसक्ति हुए बिना न काम आता, न क्रोध, न लोभ और न मोह। इसलिए चाहे जो बोलो 'चाहे जो खाओ' यह पतन का—नरक का—दुःख का मार्ग है।

देहासक्ति— इन्द्रिय भोगासक्ति रखकर न योग होता, न ज्ञान, न भक्ति। इन्द्रिय भोगों में लगा, असंयमी का मन चंचल होगा या एकाग्र? उससे योग कैसा? देहासक्ति भी और अपने अपरिच्छिन्न स्वरूप का बोध भी अर्थात् अपने ही ज्ञान के विपरीत आचरण क्या सम्भव है? आसक्ति भगवान् में रहेगी या भोग में, दोनों में एक साथ नहीं रह सकती।

अन्तःकरण में ही दुःख-सुख, बंधन है। अतः इस अन्तःकरण को ही शुद्ध करना है। इसे योग से करिये, ज्ञान से करिये या भक्ति से। अन्तःकरण में चाहे जो आवे—इन्द्रियों से चाहे जो होता रहे, तब आपका योग, ज्ञान या भक्ति है किसके लिए? वह ईश्वर अथवा ब्रह्मा को मुक्त करने के लिए है?

इसलिए आप योग के साधक हों, परमार्थ जिज्ञासु हों या भगवद्भक्ति के मार्ग में चलने वाले हों, पहली शर्त-पहली आवश्यकता है कि आप सदाचारी हों। आपके जीवन से दुर्गुण-दुराचार, असंयम दूर हों।

बोलने में, खाने-पीने तथा व्यवहार में और मन के चिन्तन में भी आप संयम, सात्विकता, पवित्रता बनाये रखने को निरन्तर सावधान हैं तो साधक हैं। इस सावधानी का नाम ही साधन है।

महत्त्व के दोष

मनुष्य के मन में मुख्य चार दोष हैं—काम, क्रोध, लोभ और मोह। इन चार को भी शास्त्रकारों ने संक्षिप्त किया और केवल दो दोष ही बतलाये राग और द्वेष।

लोभ और मोह वस्तुतः दो दोष नहीं हैं। ये दोनों विषय-भेद से ही दो कहे जाते हैं। जब शरीर, परिवार में आसक्ति होती है तो उसे मोह कहते हैं और जब

धन में, पदार्थों में आसक्ति होती है तो उसे लोभ कहते हैं। लोभ और मोह आसक्ति के ही नाम हैं। इसलिए दोष तो है आसक्ति। इस आसक्ति का ही नाम राग है।

राग की प्रतिक्रिया है द्वेष। हमारी आसक्ति के स्थान पर आघात हो तो द्वेष होता है। जो हमारी कामनापूर्ति में बाधक है, उसके प्रति क्रोध-द्वेष होता है।

काम को अब उस अर्थ में लें, जिस अर्थ में यह लोक में प्रचलित है। अर्थात् स्त्री-पुरुष भोग विषय-कामना। यह काम और क्रोध आगन्तुक दोष हैं। ये आँधियाँ हैं। ये अकस्मात् मन में आते हैं और फिर चले जाते हैं। ऐसा पुरुष संसार में नहीं मिलेगा, जो बराबर दो दिन-रात काम या क्रोध के आवेश में रह सके।

काम और क्रोध मन में बराबर नहीं रहते, ये आते हैं। आवेश हैं ये। मन में आने पर इनका ज्ञान होता है। इसका अर्थ है कि मन में ये आवे ही नहीं, ऐसा मन बन नहीं सकता। घर का द्वार सदा नहीं बन्द रखा जा सकता। आँधी आवे तब बन्द किया जा सकता है। काम-क्रोध नहीं ही आवें, सम्भव नहीं। बड़े-बड़े ऋषियों के भी मन में आये हैं; क्योंकि आते ये भीतर से हैं। आने से पूर्व इनका पता नहीं लगता। अवश्य ही आ जाने पर इनको दबा दिया जा सकता है। रोक दिया जा सकता है। यही किया जाना चाहिए। जो जितना यह कर सके, उतना उच्च साधक। समाज में, संसार में व्यक्ति का काम-क्रोध बहुत उथल-पुथल करता है। इनका सीधा आघात समाज पर पड़ता है। अतः ये समाज में सबसे बड़े दोष—बहुत निन्दनीय माने जाते हैं; किंतु सच यह है कि ये बड़े दोष हैं नहीं। साधक के लिए ये बड़े बाधक भी नहीं हैं। मरणासन्न व्यक्ति में अपवाद रूप ही काम के जागने की सम्भावना है और यदि वह थोड़ा भी समझदार है तो उस समय क्रोध भी नहीं करेगा। कम ही लोगों को मरते समय क्रोध आता देखा गया है।

मरण समय का कितना अधिक महत्त्व है यह कहना नहीं होगा। 'अन्ते या मतिः सा गतिः' का समर्थन गीता तथा दूसरे शास्त्रों में भी पर्याप्त है।

साधक के लिए सबसे बड़े शत्रु—सबसे बड़े दोष हैं लोभ और मोह क्योंकि ये स्थायी दोष हैं। ये बराबर बने रहते हैं। रोग, बुढ़ापा आदि का इन पर प्रभाव नहीं पड़ता।

रोगी दशा में, उपवास में, बुढ़ापे में काम का विकार स्वयं शान्त हो जाता

हैं। क्रोध का स्वभाव है कि बलवान पर नहीं आता। मरणासन्न, दुर्बल, असहाय व्यक्ति तभी क्रोध करता है जब उसे भरोसा है कि दूसरों का वह आदरणीय है। अन्यथा उसमें दैन्य आता है, क्रोध नहीं आता।

लोभ और मोह जीवन भर बने रहते हैं। भिखारी से सम्राट तक सबमें रहते हैं। रोग, बुढ़ापा, मृत्युक्षण में भी ये पूरे जागृत रहते हैं अतः साधक के लिए ये सबसे बड़े बाधक हैं। क्योंकि समाज में ये धीर गति से छिपा उत्पात करते हैं—इनके प्रति समाज में कम आक्रोश है। समाज इनको सहने का अभ्यस्त हो गया है। बहुत बड़ी सीमा तक समाज के लोग इनको दोष ही नहीं मानते, क्योंकि ये व्यापक हैं। सबमें हैं।

साधक को सबसे अधिक ध्यान देना है इन दोषों पर। काम और क्रोध जिनमें बार-बार आते हैं, उनका मोक्ष सम्भव है। दुर्वासा और दीर्घतमा ये क्रोध और काम के बहुत आवेश में आने वाले दो ऋषि हैं; किंतु ऋषि हैं। लेकिन लोभी और मोही ऋषि नहीं हो सकता। लोभ-मोह के रहते जीव का उद्धार सम्भव नहीं है और स्थायी दोष होने से ये रहेंगे तो बने रहेंगे। जायेंगे तो चले ही जायेंगे।

आपको अपने मन से लोभ-मोह को निर्मूल कर देना—यह मुख्य दृष्टि आप में होनी चाहिए। सबसे अधिक सावधान इन्हें दूर करने के लिए रहना है।

वैसे मन के दोषों को दूर करने की रीति यह नहीं है कि सबसे बलवान् दोष से जूझना आरम्भ कर दिया जाय। जंजीर तोड़नी है तो उसकी सबसे दुर्बल कड़ी तोड़ दीजिये। जो सबसे दुर्बल दोष है, जैसे हँसी में झूठ बोल जाना, खड़े-खड़े खा लेना या जल पी लेना, ऐसे छोटे दोषों को दूर करने से श्रीगणेश करेंगे तो बड़े दोष भी मिट जायेंगे।

दोषों को कैसे जीतें?

प्रत्येक साधक के सामने यह प्रश्न सदा रहता है। इसलिए रहता है कि व्यक्ति निर्दोष नहीं होता और साधक में जागृत विवेक होता है। वह अपने दोषों की ओर से नेत्र बन्द नहीं कर सकता। सच तो यह है कि साधक को अपने छोटे दोष भी बहुत बड़े दीखते हैं; क्योंकि स्वच्छ वस्त्र पर थोड़ा-सा धब्बा भी दूर से दिखाई पड़ता है और बहुत खटकता है।

इन दोषों संघर्ष करने में साधक की बहुत अधिक मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। इसलिए होता है, क्योंकि उसे संघर्ष करना आता नहीं है। युद्ध में सुशिक्षित छोटी सेना भी भारी अशिक्षित भीड़ को पराजित कर देती है, यह सत्य हमें भूलना नहीं चाहिए।

जो नियम संसार में युद्ध का है वही नियम भीतर के युद्ध का भी है। वह नियम यह है कि शत्रु के सबसे दुर्बल स्थान को ढूँढ़ें और वहाँ पूरी शक्ति से प्रहार करो। इसका अर्थ है कि अपने भीतर देखो कि तुम्हारा सबसे दुर्बल दोष क्या है? उसे पूरी शक्ति से मिटा दो। फिर सबसे दुर्बल ढूँढ़ो और उसे मिटाओ। सबसे बलवान दोष से पहले ही मत उलझो।

जैसे—तुममें काम है, क्रोध है, मोह है। अभी इन्हें, छोड़ो। तुम हँसी में व्यर्थ झूठ बोल जाते हो। तुम बिना कारण लोगों से बहस करने लगते हो। तुम भोजन कुछ ज्यादा कर लेते हो। तुम निश्चय करते हो पाँच बजे चलने का और पाँच मिनट पहले या पीछे चलते हो। इन छोटे दोषों की उपेक्षा मत करो। इनको दृढ़ निश्चय करके मिटा दो। इनको एक-एक छोड़ते चलो तो बड़े दोष दुर्बल पड़ते जायेंगे। उन्हें भी पीछे सरलता से जीत लोगे।

(क) बड़े दोष—

साधक में सबसे बड़े दोष कौन-से होते हैं?

काम और क्रोध—यही नाम तुम लेना चाहते हो? लेकिन यह बात ठीक नहीं है। ये दोनों छोटे दोष हैं। क्यों छोटे हैं? इसका उत्तर तुम अपने जीवन का गणित करो तो मिल जायगा।

मनुष्य के जीवन में जितने समय काम का आवेश रहता हो, उसके घण्टे जोड़ डालो। इसी प्रकार क्रोध के घण्टे जोड़ो। तुम देखोगे कि ये घण्टे बहुत थोड़े हैं। काम और क्रोध आवेग हैं। ये आँधी के समान आने जाने वाले हैं। किसी के भी जीवन में पूरे एक दिन-रात कभी न काम रहता है और न क्रोध। बच्चे में काम नहीं होता। बुढ़ापे में भी वह दुर्बल हो जाता है। कोई विपरीत बात न बने तो क्रोध नहीं आता।

बड़े दोष हैं लोभ और मोह। ये मरने तक भी पिण्ड नहीं छोड़ते। ये रात-दिन बने रहते हैं। ये कब नहीं थे, ऐसी गणना करना ही सम्भव नहीं है।

इन बड़े दोषों के अतिरिक्त झूठ, प्रमाद, व्यर्थ बोलना, परचर्चा, परनिन्दा, जिह्वालोलुपता जैसे दुर्गुण भी हैं। ये भी जीवन में काम-क्रोध की अपेक्षा अधिक देर तक रहते हैं।

इन सभी दुर्गुणों का मूल अभिमान तो है ही। यह अभिमान अनेक रूपों में प्रकट होता है हममें अमुक सद्गुण हैं, हमने ये अच्छे काम किये—यही अभिमान का रूप नहीं है। अपने दोषों को स्वीकार न करना भी अभिमान ही है। नाम-यश की इच्छा भी अभिमान ही है।

साधक को लोभ-मोह तथा दूसरे स्थायी दोषों को दूर करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

(ख) बड़े गुण—

केवल दोषों पर ध्यान देना बुरी बात है। दोषों के ही चिन्तन से दोषों की जड़ दुर्बल होने के स्थान पर दृढ़ होती जाती है अतः दोषों की अपेक्षा गुणों पर ध्यान अधिक दिया जाना चाहिए। यदि साधक गुणों को अपने में धारण करता है तो दोष बहुत से स्वयं दूर हो जाते हैं।

साधक का सबसे बड़ा गुण है भगवद्-विश्वास या आत्म-विश्वास। भक्त में भगवान् पर दृढ़ विश्वास और योगी तथा ज्ञानमार्गी में अपने प्रयत्न पर पूरा भरोसा। यह अकेला गुण इतना महान है कि यह पूर्ण हो तो दूसरी सब त्रुटियाँ नगण्य हो जाती हैं।

दूसरा बड़ा सद्गुण है साधक का कि उसमें प्रमाद नहीं होना चाहिए। प्रमाद तमोगुण है और वह साधक का सबसे बड़ा शत्रु है। अप्रमाद—नित्य सावधान, आलस्य-हीन प्रवृत्ति, सदा जागरुकता साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक और बड़ा सद्गुण है।

जान-बूझकर मैंने विनम्रता-अनहङ्कार का नाम इस तृतीय श्रेणी में रखा है। नम्रता बड़ा सद्गुण है; किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि नम्रता का भी अभिमान हो जाता है। अतः नम्रता की उपेक्षा भी बड़ा सद्गुण है। व्यक्ति को निश्छल होना चाहिए, उसमें दिखावट बनावट नहीं होनी चाहिए। वह जो कुछ भी है, जैसा भी है—स्पष्ट रहे तो उसके दोष-दुर्बलता पर बार-बार चोट पड़ेगी और वे स्वयं दूर होते जायेंगे।

आपकी स्वतन्त्रता?

आप स्वतन्त्र है आपने को स्वतन्त्र समझने में; किन्तु क्या कभी आपने अपनी स्वतन्त्रता पर विचार किया है?

शैशव धाय तथा माता के परतन्त्र है। इसी प्रकार बुढ़ापा—यदि आप दीर्घायु पाते हैं, घर के लोगों के परतन्त्र हो जाते हैं। बाल्य और कैशोर अभिभावकों के परतन्त्र हुआ करता है।

अपने पैर पर खड़े होने के पश्चात् ?

आपका प्रश्न उचित है; किन्तु सुविचारित नहीं है। कितने लोग हैं जो अपने कार्यालय के, पत्नी के, बच्चों की आवश्यकता के परतन्त्र नहीं हैं?

यह न भी सही, आप अपनी आवश्यकता के और वासनाओं के परतन्त्र नहीं हैं?

भूलिये मत कि व्यक्ति समाज और प्रशासन के परतन्त्र होता है। अनिवार्य सैनिक सेवा अनेक देशों में है, प्रशासन या समाज के अनेक नियम अनिवार्य होते हैं।

जीवन मृत्यु के परतन्त्र है।

तन रोगों के परतन्त्र है।

धन एवं भोग प्रारब्ध के परतन्त्र हैं

मन वासनाओं, आशंकाओं के परतन्त्र है।

जीवन में स्वतन्त्र क्या है कि आप अपने को स्वतन्त्र मानें?

‘प्रकृति’ यान्ति भूतानि।—गीता

समस्त प्राणी-पदार्थ प्रकृति के परतन्त्र हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माण सर्वशः।’—गीता

प्रकृति के गुण (सत्त्व, रज तम) ही सम्पूर्ण अच्छे-बुरे कर्म करते-कराते हैं। तब आपकी स्वतन्त्रता?

आपकी स्वतन्त्रता है—सचमुच आप स्वतन्त्र हैं और नहीं हैं तो हो सकते हैं।

यह तन, मन, धन, जीवन प्रकृति का है। इसे अपना मानकर, इसमें, आसक्त होकर तो स्वतन्त्रता मिलने से रही। लेकिन इस शरीर से—शरीर के

नाम-यश तथा शरीर के सम्पर्कों, सम्बन्धियों से अनासक्त हो जाते हैं आप, तो अब आपको परतन्त्र करने वाला कौन ?

इस परतन्त्रता से मुक्त हैं आप, तो महापुरुष हैं इससे मुक्त होना चाहते हैं तो जो इससे मुक्त हैं उन संतों या परममुक्त परमात्मा की शरण लेनी है, यह शरणागति ही स्वतन्त्रता का द्वार है।

जब आप अपने को ठगते हैं

‘वही ठगा जाता है जो दूसरे को ठगने जाता है।’ यह सिद्धान्त सर्वत्र समान रूप से लागू है, इसे भूलिये मत।

नोट दुगुना कराने के लोभ में, सोना बनवाने में प्रायः लोग ठगे जाते हैं। ऐसे लोग समाज और सरकार को ठगना चाहते हैं। बिना कुछ किये उन्हें धनी होना है। इस लालच में जो नहीं आता, ठग उसे ठग नहीं पाते।

आप अध्यात्म के मार्ग में चलते हैं, सत्संग करने जाते हैं तो आपके मन में अध्यात्म की शुद्ध प्यास है, अथवा कोई और भी कामना है, इसे देख लीजिये। कोई और भी कामना है तो आप ठगे जा सकते हैं

मछली काँटे में क्यों फँसती है? चारे के लोभ में। आपमें किसी चारे का लोभ है तो वह चारा डालकर फँसाने वाले संसार में सदा रहे हैं और सदा रहेंगे।

अब देखिये कि चारे के लोभ का क्षेत्र कहाँ तक है। आपको सत्संग करने जाना है। जहाँ जा रहे हैं वहाँ ठहरने, भोजनादि की सुव्यवस्था तथा सम्मान चाहिए। जहाँ ये सब सहज उपलब्ध हों आप उसी आश्रम में ठहरना चाहते हैं।

आश्रम के अध्यक्ष संत-महापुरुष हो सकते हैं; किन्तु आप जो-जो सुविधाएँ चाहते हैं, वे पैसे से उपलब्ध होती है। अतः उसे उस पैसे देने वाले धनियों का अधिक ध्यान रखना होगा या नहीं? आप सब सुविधा भी उससे चाहते हैं और चाहते हैं कि वह धन से निरपेक्ष रहे, धनियों का अधिक सत्कार न करें। फक्कड़ और समान बर्ताव करने वाला हो। यह आपकी बुद्धिमानी चलेगी?

आपको किसी प्रसिद्ध प्रतिष्ठित का शिष्य भी कहलाना है (कम-से-कम

उसका सत्संगी कहलाना है।) साथ ही आप चाहते हैं कि वह लोक से निरपेक्ष हो, किसी दूसरे की चिन्ता न करे (लेकिन आपका सम्मान, आपका स्नेह अवश्य रखे।) अब आपकी यह माँग कितनी संगत और सम्भव है? जिसकी प्रतिष्ठा है, निश्चित रूप से उसे व्यवहार-कुशल होना पड़ेगा। दूसरों का उचित सम्मान करना पड़ेगा।

आप उस संत से भक्तराज या साधक, विरक्त, ज्ञानी कहला कर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। आप कैसे हैं, स्वयं जानते हैं। अब आपको जो यह उपाधियाँ अचानक देता है, वह अकारण तो नहीं देगा। आपको तो उपाधि देने वाला या आपका सत्कार करने वाला चाहिए।

आपको मुकदमा जीतना है, व्यापार में लाभ चाहिए, कोई अपराध हुआ है—दण्ड न मिले, पुत्र या पति चाहिए। आपको पता है कि संत-भक्त संसार को दुःख रूप, असार मानते हैं। इस संसार के भोगों में न लगते और न दूसरों को लगाते। लेकिन आपको तो वह चाहिए जो आपकी अभिलाषा पूरी कर दें। अब सच्चा संत भी और आपकी कामना पूरी करने वाला भी, इस बात का कही मेल है?

कोई चमत्कार, कोई सिद्धि, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य दे दे चुटकी बजाकर, समाधि लगवा दे ओर यम-नियम का पालन करना न पड़े। ऐसी माँग आप रखते हैं और सोचते नहीं कि इन असम्भव माँगों को पूरा करने का दावा जो करेगा वह कैसा होगा? संत विद्वान्, प्रसिद्ध, आश्रम-संचालक नहीं हो सकते—यह मैं नहीं कह रहा हूँ। संतों में अनेक प्रकाण्ड विद्वान् हैं, देश में उनकी बहुत प्रतिष्ठा है, उनमें अनेक एक या एकाधिक आश्रमों के संचालक भी हैं; किन्तु आपकी माँग-आपकी प्यास क्या है? उस माँग के प्रति आप कितने सच्चे हैं?

भगवान् के समान संत भी कल्पवृक्ष के समान हैं। आप उनके पास सुख-सुविधा एवं प्रतिष्ठा पाने आते हैं, लौकिक कामना की पूर्ति चाहते हैं, उनसे तो यह हो जाता है, इसमें कोई बात नहीं है। लेकिन यह सब भी मिले और परमात्मा या तत्त्वज्ञान भी, जब यह सोचते हैं तो अपने आपको भी ठगते हैं। तब आपके ठगों के हाथ में पड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है।

आपकी मानसिक परेशानियाँ क्यों?

आज के प्रतियोगिता और आर्थिक मजबूरियों के व्यस्त युग में मनुष्य के मन में चैन नहीं है। प्रतिदिन समाचार-पत्रों में दिल के दौरे और ब्लडप्रेसर अधिक होने से मृत्यु और आत्म-हत्या की खबरें प्रकाशित होती रहती हैं। लोग रात्रि में नींद की गोलियाँ खाकर निद्रा को प्राप्त करते हैं। शराब-खोरी और नशे की आदत उत्तरोत्तर बढ़ोत्तरी पर है। मद्यपान बड़े शहरों का एक फैशन-सा बन गया है। युवक हिप्पी बनकर कल्पना के सुखद संसार में विचरण करते रहते हैं। छात्रों और राजनैतिक नेताओं को लेकर अनेक आन्दोलन चलते रहते हैं। उग्रता के वातावरण में नित नई चुनौतियाँ दी जा रही हैं। इसके अतिरिक्त घरेलू और पारिवारिक समस्याएँ भी बहुत उलझी हुई हैं। मँहगाई, बेकारी, बेरोजगारी परेशानी के कारण हैं। कन्या के विवाह और दहेज की चिन्ताएँ हैं।

इनके अतिरिक्त परेशानी के और भी बहुत से कारण हो सकते हैं। यदि प्रत्येक परेशानी को गहराई से परखा जाय, तो विदित होता है कि इन कारणों में-से अधिकांश छोटे-छोटे हैं। हम राई का पर्वत बना देते हैं। छोटी-सी चिन्ता को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं। अपनी कल्पना का दुरुपयोग करते हैं और ऐसी-ऐसी ऊलजलूल विध्वंसकारी कल्पनाएँ किया करते हैं, जो शायद कभी होने वाली नहीं हैं।

मन की चिन्ता बढ़कर भय का रूप ग्रहण कर लेती है। इसके बढ़ते ही मस्तिष्क असन्तुलित हो उठता है। कोई अपने कर्जे की चिन्ता में घुला जा रहा है, तो कोई मकान-जायदाद व सम्पत्ति को आयकर-विभाग से बचाने के लिए परेशान हैं कुछ लोग काल्पनिक शारीरिक विकारों अथवा रोगों की कल्पना करते रहते हैं और नित नई दवाइयाँ खाते तथा डाक्टरों के घर के चक्कर लगाते रहते हैं।

यदि ध्यान-पूर्वक अपनी प्रत्येक चिन्ता का गहरा अध्ययन करें, तो आप पायेंगे कि वह अधिकांश में काल्पनिक ही है। असली खतरा या मुसीबत बहुत कम है। अकारण ही दूषित कल्पना की वजह से हमने उसे तूल दे दिया

है। काल्पनिक भय का खतरनाक वातावरण तैयार कर लिया है। हमें यथार्थवादी तरीके से सोचना चाहिए। भय की ओर से विचारों का प्रवाह हटाकर धैर्य, साहस और आत्म-विश्वास की ओर चलाना चाहिए। अपने मन को दुर्भावनाओं के चंगुल से बचाना चाहिए।

जब आपको परेशान करने वाले विचारों का आक्रमण हो तो आप स्थान, कार्य और वातावरण में परिवर्तन कर दीजिए। घर से बाहर निकलकर बाजार हो आइये। कुछ छोटी-बड़ी वस्तु खरीद लाइये। थोड़ी देर के लिए बाग में हरे-भरे पुष्पित वातावरण में घूम-फिर आइये। वातावरण बदलते ही चिन्ता दूर हो जायगी।

अपने मन में यह भावना बैठाइये कि “मैं भाग्यवान् हूँ और हर स्थान पर सफल होता जा रहा हूँ।” इसी विचार को गहराई से सोचिये और अपने जीवन की उन सफल घड़ियों को याद कीजिए, जब आप प्रसन्न हुए थे और आपने अपनी शक्तियों पर गर्व किया था। पिछली सफलताओं के विषय में ही सोचिये। उल्लास और उमंगों वाले क्षणों को ही याद कीजिए।

अपने मन को आनन्दित रखने की कोशिश कीजिए। शीशे के सम्मुख खड़े होकर तनिक हँसिये। खिलखिलाइये। प्रसन्न रहने की मुख-मुद्रा बनाइये। जैसा आप चेहरे पर भाव रखेंगे, वैसा ही अन्दर गुप्त मन में अनुभव भी करेंगे। यह मानव-स्वभाव है कि वह बाहर से जैसा अभिनय करता है, अन्दर से भी वैसा ही बनता जाता है।

जो बीत चुका है, उसे भुलाकर अब भविष्य की बाबत सोचिये। आप बीते हुए जीवन को दुबारा नहीं बुला सकते पर आगे सम्हलकर चल सकते हैं। साहस और धैर्य-पूर्वक विषय परिस्थितियों का सामना कर सकते हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए सच्चे मित्रों की सहायता लीजिए।

आपको संकट की घड़ियों में सन्तुलित और धैर्यवान् रहना है। उतावली न करने से अनेक समस्याएँ खुद ही हल हो जाती हैं या गायब हो जाती हैं। कुछ रुककर फिर उन पर विचार कीजिए। जिन्हें आप अनावश्यक समझते हैं, उन्हें त्याग दीजिए। आप अनुभव करेंगे कि बहुत-सी अनावश्यक बातों में आप बेमतलब उलझे हुए थे।

परमार्थ के लिये

(i) ठीक चाहना सीखिये

आप स्वार्थ-परमार्थ दोनों को पकड़े रहना चाहते हैं, इसका अर्थ है कि एक साथ पूर्व और पश्चिम दोनों ओर चलना चाहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता। आपको क्या चाहिये—यह दो टूक निश्चय कीजिये।

सम्पत्ति, सम्मान, संसार में सफलता, स्वजनों की सुख-सुविधा प्रारब्ध से मिलती है। आपके चाहने-न-चाहने से इसमें कुछ होने वाला नहीं है। ऐसा नहीं, इसकी चाह है तो इसी को, चाहिये। इसी क्षेत्र में पुरुषार्थ करेंगे तो प्रबल पुरुषार्थ, सविधि अनुष्ठानादि से प्रारब्ध को बहुत कुछ बदला जा सकता है।

आपको परमार्थ चाहिये, आत्मज्ञान चाहिए या भगवद्दर्शन चाहिये? आप जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा चाहते हैं? सचमुच चाहते हैं? तब धन रहे या जाय, भवन बने या जल जाय, समाज प्रशंसा करे या थूके, बच्चे पढ़ें और रोजी रोजगार से लगें या भीख माँगे, संसार में कुछ बने या बिगड़े, आपको कोई चिन्ता, कोई हर्ष-उल्लास या दुःख-उद्वेग नहीं होगा। इसके लिये अपने को प्रस्तुत कर लीजिये। केवल परमार्थ-को चाहना सीखिये।

हो नहीं सकता कि एक जेब से संसार के सुख-सफलता भरे रहें और दूसरी में आत्मज्ञान या भगवान भी आ जायें आप धन भी चाहें, समाज में ऊँची नाक भी बनाये रखना चाहें, बच्चों को सुखी-सफल भी बना लें और मुक्त भी हो जायें—मूर्खताभरी कामना है। इसमें लगे रहेंगे तो—

‘दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम।’

(ii) श्रद्धा करना सीखिये

परमार्थ का पथ बुद्धि का विषय नहीं है। आप अपने भरोसे चलना चाहते हैं, अपनी बुद्धि को ही परम प्रमाण मानते हैं तो परमार्थ का मार्ग आपके लिये नहीं है। ‘मैं किसी की बात को वाक्य नहीं मानता’ ऐसा कहने वाला घोर अभिमानी है। वह ठीक ही निर्णय जीवन भर लेता जाय तो भी अपनी बुद्धि का गर्व उसका कैसे छूटेगा?

यदि आपको सृष्टि में एक भी निर्दोष, श्रद्धा करने योग्य व्यक्ति नहीं

दीखता तो आप भाग्यहीन है। यह ठीक है कि मनुष्य निर्दोष नहीं होता; किन्तु जो श्रद्धा पत्थर को भगवान बना देती है, वह आप में इतनी दुर्बल क्यों है कि आप एक श्रेष्ठ व्यक्ति को निर्दोष नहीं देख सकते? आपका अहंकार इतना प्रबल क्यों है कि आप अपने से महत्तम किसी को स्वीकारते ही नहीं, फिर तो परमार्थ की आशा छोड़ दीजिये।

कोई आपसे क्या ठग लेगा? धन या शरीर अथवा दोनों। आप धन को और शरीर को पकड़कर, सम्हालकर परमार्थ पथ में जाना चाहते हो तो बहुत-बुद्धिमान हो, आपको नमस्कार। आप यदि इन्हें छोड़कर इनकी उपेक्षा करके चलना चाहते हो तो इनकी चिन्ता क्यों? आप जो शौच करते हो, उसे सुअर खाय, कौवा खाय या कीड़े—आपने कभी चिन्ता की है?

‘कोई धर्म ठग लेगा’ यह आशंका है? धर्म की बात अगली बार; किन्तु इतना समझ लो कि अर्थ और काम के समान धर्म भी एक पुरुषार्थ है और त्रिवर्ग में ही है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष के पथ में उससे भी ऊपर उठना है। उसे पकड़े रहने में प्रगति नहीं है।

(iii) मार्गदर्शक चुनना सीखिये

चाहे जहाँ श्रद्धा करना तो कोई बुद्धिमान स्वीकार नहीं करता; किन्तु कहीं भी श्रद्धा न हो तो उसे भी नासमझ समझना होगा। श्रद्धा करना आता है आपको? ठीक श्रद्धेय चुनना जानते हैं आप?

बहुत बड़ा मठ, बहुत बड़ा भव्य स्थान या अनेकों मठों के अध्यक्ष को आपने श्रद्धेय चुना है? किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित पद पर स्थित को अपना गुरु मार्गदर्शक माना है? किसी ऐसे को चुना है जिनके शिष्यों की संख्या बहुत बड़ी है? किसी बहुत बड़े विद्वान या उपदेशक अथवा लेखक ग्रन्थकर्ता को गुरु बनाया है? किसी तपस्वी, लँगोटीधारी, भस्मधारी या त्यागी को आप श्रद्धेय मानते हैं? कहने दीजिये कि आपको श्रद्धेय की पहचान नहीं है अथवा आप अपने अहंकार को ही पुष्ट करना चाहते हैं—‘मैं ऐसे बड़े का शिष्य हूँ।’

ये सब विशेषतायें या इनमें-से कोई एक विशेषता दोष नहीं है; किन्तु गुण भी नहीं है। ये विशेषतायें हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। दोष यह है कि आप इन विशेषताओं के कारण श्रद्धा करते हैं।

‘तब?’ एक पहचान। यह पहचान आपको धोखा नहीं देगी। जो निरपेक्ष है, वह श्रद्धेय है। आपसे या संसार से जिसे कुछ भी चाह है, वह साधक भी नहीं है। सन्त वस्त्र का रङ्ग नहीं है। सन्त व्यक्ति है—वह जो केवल ईश्वर की अपेक्षा रखता है। जो संसार की सेवा लेता है तो कृपा करता है उसे किसी की कोई सेवा अपेक्षित नहीं है।

अति से बचना है

‘युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्नावबोधस्य योगोभवति दुःखहा ॥’ —गीता

मनुष्य का मन अद्भुत है। अप्राप्य कष्टप्राप्य और कष्टसाध्य में सहज महत्त्व बुद्धि उसकी हो जाती है। लेकिन कष्टप्राप्य और कष्टसाध्य सदा महत्त्व का ही हो, यह आवश्यक नहीं हैं।

भगवान् बुद्ध ने ‘मध्यममार्ग’ साधक के लिए उपयुक्त माना। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में युक्त आहार, युक्त विहार (क्रिया-शीलता) कर्मों में युक्त प्रयत्न, युक्त निद्रा, युक्त जागरण सेवन करते हुए साधन करने को दुःख-निवारक बतलाया है। यहाँ युक्त का अर्थ है, उपयुक्त, अर्थात् अपनी शारीरिक, सामाजिक स्थिति के अनुसार जितना आवश्यक है, उतना।

चमक-दमक युक्त कीमती वस्त्र विलास है तो दिगम्बर रहना या टाट लपेटना दूसरी सीमा की अति है। मिर्च, मसाले, मिठाई के बिना भोजन न कर पाना विलास है तो अनाहार या पत्ते या बेल ही खाकर रहना या नमक, खटाई, चीनी, गोरसमात्र (घी, दूध, दही) का त्याग अति है। रहने को कोठी ही चाहिए, गद्दे ही चाहिए बिछाने को, यह विलास है तो खुले में या फूस की झोपड़ी में ही या वृक्ष पर रहना, पृथ्वी पर ही सोने का नियम करना दूसरी अति है।

तपस्या धर्म है। तपस्या में महान् शक्ति है। तपस्या से असाध्य भी सिद्ध होता है। इसलिए तपस्या की निन्दा नहीं की जा सकती; किन्तु तपस्या मोक्ष का साधन जहाँ है, बहुत गौण है। मोक्ष पुरुषार्थी के लिए धर्म पुरुषार्थ बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है और मोक्ष-मार्ग में यम-नियम प्रारम्भिक सीढ़ी हैं। इनमें भी यम-अनिवार्य हैं, नियम में यदा-कदा त्रुटि ध्यान देने योग्य नहीं। भगवान् कहते हैं—

‘यमानभीक्षणं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।’

—भागवत (11)

यमों का (सत्य, अहिंसा, अस्त्येय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का) सदा सेवन करे। इनका कभी त्याग न करे। साथ ही भगवत्परायण रहे अर्थात् नियमों में ईश्वर प्रणिधान का भी त्याग न करे। शेष नियमों [शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय] को कभी-कभी सेवन करे।

इस प्रकार तप न भक्ति के साधन में उपयोगी है, न ज्ञान के साधन में और न अष्टाङ्ग योग में ही। तप का फल है सिद्धि या स्वर्ग। तप एक प्रकार का मूल्य है, जो प्रकृति को दिया जाता है। प्रकृति या उसका नियन्ता उसका प्रतिफल देता है। अतः जिसको सिद्धि या स्वर्ग पाने का प्रलोभन नहीं है, वह अनावश्यक त्याग अपना कर तप करे, यह कुछ समझदारी नहीं है।

साधक का आहार, वस्त्र, निवासादि सहज होना चाहिए। इतना कि शरीर की आवश्यकता बार-बार मन को शरीर को ओर न खींचे। न विलास न ऐसा त्याग कि शरीर का ही चिन्तन मन करता रहे। सहज जीवन, सहज रहन-सहन रखना साधक के हित में है।

अनिवार्य संयम

कोई संयम की उपेक्षा करके साधन नहीं कर सकता। यह हो नहीं सकता कि आप इन्द्रियों के स्वाद के पीछे भी भागो और अंतर्मुख भी बने रहो। बाहर नहीं, परमात्मा अपने भीतर ही प्राप्त होगा। वह है तो सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप; किन्तु जीव का उद्धार उसे अपने अन्तर्यामी रूप में प्राप्त करके ही होता है। इसलिए उसे पाने के लिए अन्तर्मुख होना पड़ेगा। यह तभी होगा जब बहिर्मुखता समाप्त हो।

जब कोई महत्त्वपूर्ण काम करना होता है, तब छोटे-मोटे कामों की उपेक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार परमात्मा को पाना है तो इन्द्रियों की स्वादलोलुपता की उपेक्षा करनी ही होगी। जो स्वादिष्ट भोजन न मिलने पर पेट नहीं भर पाता, उसका मन भोजन की चिन्ता किये बिना कैसे रहेगा? मन तो एक ही काम करेगा, उससे भगवान् का चिन्तन होगा या संसार का।

इस प्रकार यह अविचल नियम निकलता है कि जिसे भी पारमार्थिक साधन करना है, उसका साधन कोई भी हो उसे यम-नियम का पालन करना ही होगा। यम-नियम, आसन तथा धारणा प्रत्येक साधन के लिए अनिवार्य हैं।

यह बात सबके लिए है। लेकिन 'मातृ-मण्डल' में इसे कहने का विशेष तात्पर्य है। नारी पुरुष की प्रेरणास्रोत है। वह चाहे तो सम्पूर्ण परिवार को संयमी बना सकती है। वह चतुर हो तो मधुरतापूर्वक ऐसा कर सकती है।

जहाँ तक भोजन की बात है, नारी में विशेषतः भारतीय नारी में एक अद्भुत संतोष की प्रवृत्ति है। कुछ अपवाद सबमें मिल जाता है। उन अपवादों की बात छोड़ दें तो इस देश की नारी को सुख-संतोष स्वयं भोजन करके उतना नहीं मिलता, जितना स्वजनों को भोजन कराके मिलता है। मैंने देखा है कि जहाँ भी किसी नारी को कभी केवल अपने लिए भोजन बनाने का अवसर आता है, वह उसे टाल देना चाहती है। उपवास न भी करे तो रूखा-सूखा खाकर समय काट देगी। लेकिन स्वजन को भोजन कराना हो तो उससे आलस्य-प्रमाद जैसे भाग जाते हैं।

इसके साथ ही यह प्रवृत्ति भी दीखती है अधिकांश घरों में कि मिर्च, मसाला, खटाई, अचार का प्रचलन एवं बहुलता महिला वर्ग के कारण ही प्रायः बढ़ता है। अपवाद इसमें भी बहुत मिलेंगे; किन्तु नारी चाहे तो धीरे-धीरे सादा, स्वास्थ्यकर भोजन परिवार को प्रिय बना दे सकती है।

पुरुष वस्त्र तो दूर, अपने शरीर की स्वच्छता के प्रति भी उपेक्षा करने वाले मिलें यह आश्चर्य की बात नहीं है; किन्तु नारी की सजगता उन्हें स्वच्छ रहना सिखा देती है। फैशन तो घर में प्रायः नारी के माध्यम से ही प्रवेश करता है।

बात तब थोड़ी कड़ी हो जाती है जब सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ईमानदारी का उपार्जन, सदाचार पर बात आती है और पुरुष को इनका पालन करना होता है। पुरुष का क्षेत्र घर से बाहर है। पुरुष अपने आचरण, अपने उपार्जन एवं व्यवहार में हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता; किन्तु ऐसा नहीं है कि नारी सावधानी से सतर्कता से स्नेह से चाहे तो घर के पुरुषों पर उसका इन क्षेत्रों में प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मैं एक महिला को जानता हूँ। वे एक व्यापारी सम्पन्न घर में पुत्रवधू हो कर आयीं। उन्होंने ससुराल आने के पाँच-छः महीने पीछे ही अपने पति से कहा—'मैं अब तक अनजान थी। अब पता लगा कि आप पूज्य पिताजी व्यापार में काला धन कमाते हैं वस्तुओं में मिलावट करते हैं। मैं अब इस घर में भोजन कैसे करूँ? आप माता-पिता से पृथक् रहें, उनकी सेवा न करें, सो भी मैं नहीं चाहती। मुझे एक सिलाई मशीन ला दीजिये। पास पड़ोस की महिलाओं के कपड़े सी दिया करूँगी। उससे मेरा काम चलेगा। पिताजी के यहाँ समाचार देकर आपके घर का अयश नहीं कराऊँगी।'।

बात सास-स्वसुर तक गयी। लोग खूब बौखलाये। बहू औरों के कपड़े सीकर निर्वाह करे, इसमें बड़ा अयश था। वह न अपनी हठ छोड़ने को तैयार थी, न पिता के घर जा रही थी, न पति के साथ पृथक् रहने को राजी थी। उसने घर के लोगों की सेवा भी नहीं छोड़ी; लेकिन भोजन छोड़ दिया था।

'तू इस घर में काम करती है। उसकी मजदूरी ले लिया कर।' स्वसुर ने समझाया।

'यह तो मेरा घर है। आप सब मेरे पूज्य हैं आपकी सेवा तो मेरा कर्तव्य है। इसकी मजदूरी कैसी?' बहू ने यह मार्ग भी नहीं पकड़ा। घाटा बहुत था। बड़ी धनहानि प्रत्यक्ष थी; किन्तु बहू को उपवास लम्बा नहीं करना पड़ा। केवल व्यंग कुछ मास अवश्य सहने पड़े।

अनेक बार तो नारियों की माँग के कारण पुरुष को अटपटे मार्ग से उपार्जन का आश्रय लेना पड़ता है। नारी कटिबद्ध हो तो समाज से चोरी, काला बाजारी, घूसखोरी आदि सबको विदा कर दे सकती है। अपने घर से यह सब विदा कर देना उसके लिए बहुत कठिन नहीं है।

आपको परमार्थ का साधन करना है। अपने उत्तरदायित्व से जो विमुख है, उस कर्तव्य-विमुख की पारमार्थिक उन्नति हो सकेगी? आपका कर्तव्य क्या है कि पुत्र को सत्पुत्र बनाना है आपको। पुत्र का निर्माण माता करती है। पति की प्रेरणा पत्नी है। अतः संयम, सदाचार जो परमार्थ-पथ के अनिवार्य आरम्भिक साधन हैं, उनका पालन केवल आपको ही नहीं करना है। पूरे परिवार को उसका भी अभ्यस्त बनाने का दायित्व भी आप पर ही है। आप फिसलेंगी तो पूरा घर गिरेगा। आप चाहेंगी तो पूरा परिवार उन्नत हो जायेगा।

साधन

विषयवती वा प्रवृत्तिरूप्यन्ता मनसः स्थिति निबन्धिनि। —योग दर्शन

हम संसार में रूप, रस गन्ध, शब्द और स्पर्श के द्वारा सुख पाते हैं। इन्हीं के साधनों को पाने में लगे रहते हैं। यदि बिना बाहरी पदार्थ का आधार लिये हमको रूप, रस, गन्ध, शब्द या स्पर्श अपनी इच्छानुसार मिलने लगे तो हमको संसार के पदार्थों की प्राप्ति के लिये क्यों भटकना पड़े।

यद्यपि पारलौकिक कल्याण की दृष्टि से इन साधनों का बहुत महत्व नहीं है, लेकिन जिस साधक को चमत्कार देखना है अथवा जिसका मन बहुत चञ्चल है और किसी प्रकार एकाग्र ही नहीं होता, उसे आरम्भ में इस कोटि का साधन थोड़े दिनों करना चाहिए।

पारमार्थिक सभी साधन ऐसे हैं कि उनका प्राप्तव्य देखा जाना नहीं है न किसी ने भगवान् को देखा है, न आत्मानुभव दृश्य। देखा-सुना तो संसार और संसार के सुख-दुःख है। अतएव जब साधक को बिना बाहरी आधार के शब्द, रस, गन्धादि का अनुभव होने लगता है तो साधन में उसका विश्वास जमता है। परलोक-परमार्थ में उसकी श्रद्धा होती है। इसलिये ये साधन प्रारम्भिक साधन के लिये हैं।

ये पाँच साधन हैं। इनमें से प्रत्येक में मन्त्र है। वह मन्त्र साधक को गुरु से प्राप्त होता है। यहाँ साधन का क्रियारूप बतलाया जा रहा है—

गन्धप्रवृत्ति—किसी आसन में बैठ जाइये। स्थान और समय ऐसा चुनिये जबकि आस-पास शोरगुल न होता हो। रात को नीत बजे के बाद पाँच बजे तक का समय सबसे उत्तम है। नहाने-धोने की आवश्यकता नहीं है। आप अपने बिस्तर पर भी बैठ सकते हैं। सर्दी लगती हो या मच्छर तंग करते हों तो कुछ ओढ़कर बैठिये।

बात इतनी है कि आपका ध्यान बाहर खिचे—ऐसी बातें नहीं होनी चाहिये।

अपना मन दोनों भौहों के बीच के स्थान पर लगाने का प्रयत्न कीजिये। उसी स्थान पर दृष्टि जमाने का प्रयत्न कीजिये।

बहुत थोड़े दिनों में आपको विचित्र-विचित्र सुगन्ध का अनुभव होने लगेगा। लेकिन अपने अनुभव को अपने निर्देशक को छोड़कर दूसरों से बताने लगे तो यह लुप्त हो जायगा। उसे अपने तक रखिये! जब गन्ध अनुभव होने लगे तो आगे के निर्देश वैयक्तिक रूप में लेने चाहिये।

सुलभ साधन

‘वीतराग विषयं वा चित्तम्।’ —योगदर्शन

जिस व्यक्ति में राग-द्वेष नहीं है, उसमें अपना चित्त लगा दो। उसका ध्यान-चिन्तन करो तो चित्त शुद्ध हो जायगा। यह बात महर्षि पतञ्जलि ने कही है।

पुत्र में, पति में नारी की आसक्ति स्वाभाविक है। मैं यहाँ एक भिन्न बात कह रहा हूँ कि आप अपने घर में कोई महापुरुष बनावें अथवा कोई महापुरुष सौभाग्य से मिल जाय तो अपना चित्त उसमें लगा दें।

महापुरुष कौन ?

सीधी पहिचान—जो आपसे अथवा संसार में दूसरे भी किसी से कुछ न चाहे। जिसकी संसार से कोई माँग न हो। वह त्याग से रहे या भोग से; किन्तु अपेक्षा केवल भगवान् से रखे। संसार में कोई किसी की सेवा स्वीकार भी करे तो स्पष्ट लगे कि वह कृपा करके स्वीकार कर रहा है। उसे आवश्यकता नहीं है।

महापुरुष—ऐसा महापुरुष यदि मिल जाय तो अनेक जन्मों का पुण्य उदय हुआ। उसमें चित्त आसक्त हो जाय तो जीवन धन्य हो गया। इतने से ही प्राणी का उद्धार सुनिश्चित हो गया।

अपने घर में महापुरुष कैसे बनाया जाय ?

यह बात तक तक कठिन है, जब तक मोह को मन से दूर न किया जाय। संतान में मोह भी रहे और समाज में अपनी ‘नाक’ भी ऊँची रखी जाय तो यह बात बन नहीं सकती। मोह नरक का द्वार है। काम-क्रोध-लोभ का भी बाप है मोह। अतएव पहले मोह को मन से दूर कीजिये।

बेटा या बेटी पढ़े, अच्छा पद, बहुत-सा धन पावे। उसे अच्छी पत्नी या पति मिले। उसके बाल-बच्चे हों। यह बात सभी चाहते हैं। मोहवश चाहते हैं। आपको भी यही चाहना है तो आपसे कुछ कहना नहीं है।

जिस घर में एक भक्त या महापुरुष हो जाता है—उस कुल की इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है, यह आपने सुना है ? शास्त्र यह घोषणा करते हैं।

आपके बच्चे हैं। वे पुत्र हों या पुत्री—उनमें भगवान् की भक्ति जागे, ऐसा प्रयत्न कीजिये।

बहुत से माता-पिता ऐसा करते हैं; किंतु कठिनाई तब आती है जब लड़का या लड़की पढ़ने में, धन कमाने में ठीक-ठाक नहीं लगते अथवा विवाह करना स्वीकार नहीं करते।

आप पर समाज अंगुली उठाने लगता है या आपको डर लगता है कि समाज अंगुली उठावेगा।

समाज ने नरसी मेहता, तुकाराम, कबीर, मीरा पर कम अंगुली उठायी? कम निन्दा या विरोध इन लोगों के हुए?

‘यदि बच्चा या बच्ची आगे संभल न पावे’ यह आशंका ठीक है; किंतु आगे वह संभल नहीं सकेगा, इसलिए आप अभी से धक्का दे दें—यह क्या समझदारी की बात है?

इतना देखिये—आपकी सन्तान सुमार्ग पर है। उसमें कोई बुराई—कोई आचारापना नहीं आ रहा है तो उसे उत्साहित कीजिये। उसे बन्धन में मत डालिये। उसको जितनी सुविधा सम्भव हो दीजिये।

वह महापुरुष न भी बन सके तो जितना कुछ कर पावेगा—उसमें आपका भाग होगा। कहीं वह सचमुच अपना उद्धार कर ले सका तो आपका उद्धार अपने आप हो जायगा।

अपने घर में महापुरुष बना सकें तो बनावें। कोई महापुरुष मिल जाय तो उसमें चित्त की आसक्ति बढ़ावें। बड़े सौभाग्य से ऐसा अवसर मिलता है। कम लोगों को मिलता है।

सुगम साधन

1-सबके लिए सबसे सुगम साधन है भगवन्नाम का जप। नारी के लिए—विशेषतः परिवार में रहने वाली नारी के लिए यह और भी सुलभ है। घर के काम करते हुए ओष्ठ हिलते रहें—बिना शब्द किये भगवन्नाम का जप करने का अभ्यास कर लेना किसी के लिए कठिन नहीं है। इसके कई लौकिक लाभ हैं—

क) व्यर्थ की बातचीत बन्द हो जाती है। इससे दूसरों की चर्चा और निन्दा-स्तुति छूट जाती है।

ख) झगड़ा होने और क्रोध आने के अवसर कम हो जाते हैं।

ग) अपने दैनिक कार्य शान्ति से तथा अधिक एकाग्रता से हो पाते हैं।

घ) थोड़े ही दिनों में जप में अद्भुत रस आने लगता है। इस प्रकार जप करने वाले को यह निश्चय करना पड़ता है कि निद्रा, भोजन, जल पीना और अत्यन्त आवश्यक हो तभी बोलने के अवसर को छोड़कर वह जिह्वा से बराबर जप करता ही रहेगा।

स्वभावतः थोड़े दिनों में जप में लगा व्यक्ति अल्पभाषी हो जाता है। उसे बोलने की अपेक्षा जप करने में अधिक सुख मिलता है। फल यह होता है कि बोलना आवश्यक होने पर भी वह कम-से-कम शब्दों में अपनी बात कहना चाहता है।

असत्य बोलना तो छूट ही जाता है। सहनशीलता आ जाती है। कोई व्यंग करे, कुछ कड़ी बात कह दे, तो भी चुप रह जाना प्रिय लगता है। क्योंकि उत्तर प्रत्युत्तर करने में उसका जप छूटता है।

झूठ न बोलना, झगड़ा न करना, परचर्चा न करना, किसी की निन्दा न करना आदि बड़े सद्गुण हैं। इनमें-से कोई एक सद्गुण भी व्यक्ति को महान बना देता है। इनमें-से कोई एक सद्गुण जीवन में ले आने के लिए बहुत प्रयत्न एवं मन से बहुत संघर्ष करना पड़ता है, किन्तु भगवन्नाम-जप का यह अभ्यास कर लिया जाय तो ये सब सद्गुण जीवन में अपने आप आ जाते हैं। इनके लिए पृथक् से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

नाम-जप का अभ्यास पक्का हो जाय तो मोक्ष निश्चित हो जाता है।

क्योंकि प्रायः मरते समय प्राणी सुध-बुध खो देता है। उस समय जानबूझ कर कोई साधन करना उसके वश में नहीं होता। लेकिन जीवन में यदि जीभ को नाम-जप का अभ्यास हो गया है तो मरते समय भी जीभ नाम-जप करती ही रहेगी। मरते समय कोई नाम-जप करते हुए शरीर छोड़े तो उसको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, यह बात सब सत्-शास्त्र मानते हैं।

नाम-जप के सम्बन्ध में नीचे की बातें ध्यान में रखनी चाहिये।

1-नाम का जप किसी अवस्था में छोड़ा नहीं जाता। शौच आदि दूसरी

अपवित्र दशाओं में भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये।

2-नाम केवल भगवन्नाम हो। मन्त्र जपना हो तो उसे स्नान करके कोई भले जपे, किन्तु प्रत्येक समय तो नाम का ही जप किया जाना चाहिये।

3-नाम जितना छोटा और सीधा होगा, निरन्तर जप करने में उतनी सरलता होगी।

4-एक बार जिस नाम का जप प्रारम्भ किया जाय, उसे बदला न जाय। जीवन भर उसी नाम का जप किया जाय।

5-जिसमें अपनी श्रद्धा हो—उस गुरु से नाम का उपदेश प्राप्त करना अधिक अच्छा है। इससे अपनी ओर से नाम को बदलने का संकल्प नहीं उठेगा।

मुझे और दूसरे किसी को भी जीव के उद्धार का इससे सुगम दूसरा कोई साधन पता नहीं है। इससे सुगम कोई दूसरा साधन है ही नहीं।

मन लगता है तो ठीक है, नहीं लगता है तो भी कोई बुराई नहीं है। वैसे जब भी सम्भव हो अपने जप को अपने कान से सुनते रहना चाहिये। इससे मन उसमें लगा रहेगा।

भाव कुभाव अनख आलसहूँ।

नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

गुरु बनाना आवश्यक है?

इसका उत्तर गोस्वामी तुलसीदासजी ने दिया है—

गुरु बिनु भव निधि तरै न कोई।

जो विरज्जि संकर सम होई॥

ब्रह्माजी और भगवान् शंकर—अर्थात्—

सम्पूर्ण सृष्टि बनाने की सामर्थ्य से सम्पन्न और सम्पूर्ण ज्ञान, विद्या, कला की अधिदेवी सरस्वती नित्य सेवा में उपस्थित। ऐसी क्रिया शक्ति और विद्या-बुद्धि।

सम्पूर्ण सृष्टि की प्रलय करके उसकी विभूति धारण करने वाले—वैराग्य की पराकाष्ठा। काम जिनकी दृष्टि से भस्म हो जाता है। पार्वती को आधे शरीर में धारण किये रहने पर भी ऊर्ध्वरेता—संयम की कल्पनातीत सीमा।

इतनी सामर्थ्य, बुद्धि, वैराग्य, संयम हो तो भी गुरु के बिना कोई संसार से

पार नहीं हो सकता, यह बात गोस्वामी तुलसीदास जी ने कही है।

इसलिए 'गुरु की आवश्यकता ही क्या?' ऐसा कहना—मानना तो अभिमान के अतिरिक्त कुछ है नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि भगवान् को, भगवान् शंकर को, देवर्षि नारद को या भगवान् व्यास को अथवा ऐसे ही अन्य महापुरुष को गुरु मान लेने से काम चलता है या नहीं?

नहीं चलता। क्योंकि गुरु केवल मान्यता नहीं है। शिष्य गुरु से प्रार्थना करता है और जब गुरु उसे स्वीकार करके अपनाता है, तब गुरु-शिष्य सम्बन्ध बनता है। आपने प्रार्थना की, संत ने स्वीकार नहीं किया तो आपके वे गुरु कहाँ हुए। इसी प्रकार आपने मन से किसी को गुरु माना तो वे गुरु हुए कहाँ? उनकी स्वीकृति मिली?

गुरु का अर्थ है ज्ञानदाता। आपने जिसे मन से गुरु माना—उसने तो आपको शरणागत माना नहीं अब आप अपनी कल्पनाओं को उसकी प्रेरणा कहते रहो यह आपके मन की बात।

अवश्य ही प्रत्यक्ष या स्वप्न में जिन्हें दर्शन देकर भगवान् शंकर, व्यासजी, नारद जी या कोई और महापुरुष दीक्षा-उपदेश देते हैं, उनकी गुरु शरणागति ठीक है: उनके गुरु होने में सन्देह नहीं किया जा सकता।

एकलव्य और कबीर जी के उदाहरण भिन्न प्रकार के हैं; किन्तु इनमें भी एक बात है जो ध्यान नहीं दी जाती और वह यह कि द्रोणाचार्य-एकलव्य के लिए और स्वामी रामानन्द जी-कबीर जी के लिए प्रत्यक्ष थे। दोनों ने अपने गुरुओं के प्रत्यक्ष दर्शन किये थे और दोनों ने प्रार्थना की थी। दो में—से किसी ने अप्रत्यक्ष परशुराम जी, शंकर जी आदि को गुरु नहीं बनाया था। दूसरी बात यह कि एकलव्य तथा कबीरदासजी की दृढ़ता—निष्ठा इसमें परम आवश्यक है।

स्पष्ट तात्पर्य है कि गुरु मन से कल्पित किया नहीं ही होना चाहिए। वह प्रत्यक्ष होना चाहिए। भले स्वप्न में ही वह प्रत्यक्ष हुआ हो अथवा दीक्षा देने-उपदेश करने के तत्काल बाद उसी दिन उसका परलोक-गमन हो गया हो। या फिर परिस्थिति वश उससे दुबारा मिलना न हुआ हो।

उचित गुरु कैसे मिले

चाहे जिसे गुरु बना लेने से कुछ होता नहीं। एक सन्त कहते थे, गुरु तीन प्रकार के—फक्कड़ गुरु, लक्कड़ गुरु, पत्थर गुरु।

फक्कड़ गुरु जो अपनी कृपा से शिष्य को पार कर दें। लक्कड़ गुरु—जिनके उपदेश पर चलकर शिष्य भवसागर पार हो जाय। जैसे लकड़ी को पकड़ कर तैरकर नदी पार हो जाते हैं। पत्थर गुरु जो स्वयं तो डूबेंगे ही—पकड़ने वाले को भी डुबाकर छोड़ेंगे।

अब फक्कड़ गुरु न मिल सकें, तो लक्कड़ गुरु तो हों कम-से-कम। पत्थर गुरु का पल्ला तो न पकड़ा जाय। इसके लिए गुरु में निम्न विशेषताएँ चाहिए—

1—जो रुचि, निष्ठा आपकी है, ठीक वैसी उसकी न भी हो तो भी उस रुचि, निष्ठा से विरोधी निष्ठा उसकी न हो।

2—वह सचमुच सन्त हो।

3—वह शास्त्रों की मर्यादा का जानकार हो।

न केवल सन्त, न केवल पण्डित—सन्त भी हो और शास्त्र का विद्वान भी तो हो तथा अपनी निष्ठा की अविरोधी निष्ठावाला हो तो वह गुरु बनाने योग्य है।

ऐसा उचित गुरु कैसे मिले। क्योंकि यह कलियुग है। इसमें शास्त्रों के पण्डित अपने का सन्त घोषित करें, साधुवेश-धारी मात्र सिद्ध सन्त कहलावें, यह अद्भुत नहीं है। जब सब ठगने को ही कमर कसे हों तो ऐसे बाजार में रत्न कैसे पाया जाय?

आप सदाचारी बने रहें और भगवान्नाम जम में लगे रहें। चमत्कार देखने और अद्भुत अनुभव सुनाने वालों से तनिक दूर रहें। भगवान् से प्रार्थना करें—‘उचित सद्गुरु दें प्रभु!’

राम कृपा बिनु मिलहिं न संता।

अतः प्रार्थना करें, थोड़ी प्रतीक्षा करें आप में श्रद्धा है, वैराग्य है भोगों से ही नहीं, चमत्कारों से भी और आप साधन करना चाहते हैं—‘छू मन्तर’ के आतुर नहीं तो आपको गुरु मिलेंगे। आप इतना करें—जब हृदय कहे कि—‘ये मेरे गुरुदेव’ तब हिचकें नहीं, तुरन्त प्रार्थना करें उनसे कि वे अपनावें।

परमगुरु

आपके गुरुदेव कौन हैं? वे जीवित हों आपको उपलब्ध हों तो गुरुपूर्णमा पर आपको अवश्य उनका पूजन करना चाहिए। अपनी श्रद्धा एवं शक्ति के अनुसार उनका सत्कार करना चाहिए।

उनका शरीर न हो या वे उपलब्ध न हो सकें तो आप मन से उनका स्मरण करें, उनका पूजन करें।

एक बात स्मरण रखें—गुरु के दो रूप हैं। एक उनका वह रूप जो आपको दीखता है और दूसरा वह रूप जो आपके अन्तर में रहकर आपके साधन देह का संरक्षण—पोषण करता रहता है। यह दूसरा रूप ही मुख्य है। यह तो जन्मान्तर में भी आपके साथ रहेगा और आपको परमपद तक पहुँचाएगा।

गुरु के जीवन में—स्थूल देह में रोग तथा दोष भी आ सकते हैं, किन्तु आपका सम्बन्ध तो स्थूल देह से नहीं है। उनके ज्ञान-स्वरूप से है, जो आपके अन्तर में है। नित्य आपके साथ है। अविनाशी है। अतः स्थूल देह उनका न भी रहे तो भी वे आपके साथ हैं।

मुझे अदृश्य तिब्बती सिद्ध की बात सत्य लगती है। ‘शिवस्मरण’ में मैंने यह घटना पूरी दी है। उन्होंने बतलाया—‘जैसे अनेक शिव-मन्दिरों में अनेक शिवलिंग या अनेक शिवमूर्ति होने पर भी शिव अनेक नहीं हैं, उन सब मूर्तियों की पूजा शिव की पूजा है और उपासक चाहे जिस मन्दिर में पूजा करे, उस पूजा की स्वीकृति, पुजारी का रक्षण, अभीष्ट पूर्ति—मूर्ति नहीं, शिव करते हैं, वैसे ही किसी के गुरु कोई हो, गुरु—शरीर तो मूर्ति है। गुरु तत्त्व एक ही है। प्रत्येक गुरु के रूप में वही पूजित होता है। वही साधक का रक्षण, पोषण तथा मार्गदर्शन करता है। वह परम गुरु है।

उन सिद्ध ने कहा—‘हम उसे महाबद्ध कहते हैं। तुम शिव, शेष, श्री आदि में किसी नाम से उसे जानते हो। वह दो नहीं, एक ही है और वही तत्त्व—परमतत्त्व है।’

गुरुपूर्णमा को आप उस पर परमगुरु की पूजा तो अवश्य कर लें। आप

परमगुरु भोलेबाबा को मानें तो ठीक-दाऊदादा—संकर्षण—शेष को मानें तो ठीक, श्री तो वो हैं ही, जगदम्बा और 'कृष्ण वन्दे जगद्गुरुम्' को भूला कैसे जायेगा।

मृत्यु की स्मृति

दो बातों को भूल मत, यदि चाहे कल्याण।

'नारायण' एक मौत को, दूजे श्रीभगवान्॥

मृत्यु निश्चित है और इसका कोई समय पहले से प्रायः ज्ञात नहीं होता। बालक, युवा, वृद्ध कोई कभी भी मर सकता है। यह आतंक की नहीं, अभय होने की प्रेरणा है। यह प्रबल प्रेरणा है कि आप अनासक्त जीवन व्यतीत करें।

मृत्यु में कोई पीड़ा नहीं है। यह बात बहुत खोज करके पाश्चात्य परा-मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध की है। पीड़ा होती है—संग्रहीत सामग्री, स्वजन, परिजन और वर्तमान पद प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा के छूट जाने की आशंका से।

संत-सुविचारक कहते हैं—'जीवन ऐसे बनाये रखो जैसे तुम्हें आज ही या कल मर जाना है। इस प्रकार तुम स्वस्थ, निश्चित जीवन जी सकोगे।

महाशिवरात्रि है इस महीने और भगवान् शिव महाकाल हैं तो मृत्युञ्जय भी हैं।

आप कौन हैं?

काल के ग्रास या मृत्युञ्जय के प्रिय पुत्र? शरीर काल का ग्रास है; किन्तु यह तो मल-मूत्र, हड्डी-माँस आदि का गन्दा कोयला है। इसकी आसक्ति छोड़िये।

देह की आसक्ति त्याग कर आप काल के भी काल भगवान् मृत्युञ्जय के पुत्र हो। आपका काल और मृत्यु, भय और अभाव स्पर्श करने का भी साहस नहीं कर सकते।

मृत्योर्मा अमृतं गमय।

यह प्रार्थना आपको नहीं करनी। यह अमृतत्व आपका स्वत्व, आपका स्वरूप है। केवल आप मरण-धर्मा देह का मोह फेंककर अपने प्रलयङ्कर कल्याण स्वरूप सदाशिव पिता का स्मरण करो।

मानसिक पूजा

मैंने कई लोगों को 'ध्यान कराते' देखा है कुछ अनुगत सामने नेत्र बन्द करके बैठ जाते हैं और उपदेष्टा बोलते जाते हैं—'आपके नेत्रों के सामने आपसे सवा हाथ दूर, सवा हाथ ऊँचा, सवा हाथ लम्बा, सवा हाथ चौड़ा सोने का सिंहासन है। उसमें हीरे, माणिक, नीलम, पन्ना, मोती जड़े हैं। उस पर मखमल का मोटा सुन्दर आसन बिछा है उस आसन पर भगवान् खड़े हैं।'।

क्रम से वे भगवान् का वर्णन चरणों से लेकर मस्तक तक करते जाते हैं अङ्गों के आभूषण, वस्त्र, आयुध का भी वर्णन करते जाते हैं। नेत्र बन्द किये लोग वर्णन के अनुसार कल्पना करते जाते हैं या वैसी कल्पना करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

सब एक रुचि के हों, सबका मन्त्र, इष्ट भी एक ही हो—एक ही भाव हो इष्ट के प्रति तो ऐसे लोगों को प्रारम्भिक अवस्था में जब कि मन चित्र या मूर्ति से अधिक की कल्पना कर नहीं सकता, ऐसा ध्यान करना-कराना उपयोगी होता है।

जब मन इष्ट के सजीव, साकार, चलते-फिरते, हँसते-बोलते, खाते-पीते रूप की कल्पना करने में समर्थ हो जाय, एक परिपाटी में बँधा ध्यान या मानसिक पूजन न लाभकर है और न उचित है। फिर तो मानसिक-पूजन समय, देश, अवस्थादि के अनुसार बदलता रहेगा।

अपने इष्ट का जैसा स्वरूप हो और अपना जैसा भाव हो इष्ट के प्रति, वैसा मानसिक पूजन का स्वरूप होगा। जैसे आप बनवासी श्रीराम के उपासक हैं तो अपने आराध्य को मन में भी रत्न-सिंहासन पर नहीं बैठा सकते और न रत्न-माला पहिनावेंगे। उन्हें तो स्फटिक-शिला या वेदिका पर मृगचर्म बिछाकर बैठाना होगा। वन के पुष्पों की माला पहिनाना होगा। फल तथा कन्द का भोग समर्पित करना होगा। वे ताम्बूल नहीं खायेंगे, न इत्र लगावेंगे।

मर्यादा पुरुषोत्तम की मानसिक पूजा में भी मर्यादा का पालन करना होगा। ब्रजेन्द्रनन्दन की मानसिक पूजा करेंगे तो उसकी चञ्चलता का भी चिन्तन करना होगा।

बाहरी पूजा में व्यक्ति बहुत विवश होता है। पदार्थ मनोनुकूल नहीं मिल पाते। जो मिलते भी हैं उन्हें मूर्ति के अनुसार सजाना पड़ता है। जैसे मेरे कन्हाई की चित्र-मूर्ति छोटी है। कमल या गुलाब के पुष्पों की माला उसे पहिनायी नहीं जा सकती। मन में ऐसी कोई बाधा नहीं है। ऋतु एवं समय के अनुसार उत्तम से उत्तम पदार्थों की भावना आप कर सकते हैं। और उन्हें अपनी इच्छानुसार आराध्य को समर्पित कर सकते हैं।

मानसिक पूजा की कुछ विशेषताएँ हैं। इसमें आराध्य के सजीव रूप का ध्यान किया जाता है। वे चलते हैं, हँसते हैं और हमारी सेवा स्वीकार करते हैं। उनके नेत्रों के पलक उठते-गिरते दीखते हैं। श्वाँस से उनके उदर का हिलना दीखता है आरम्भ में साधक को इस प्रकार आराध्य के रूप का ही मन में दर्शन-चिन्तन होता है।

मानसिक-चिन्तन एवं सेवा में तल्लीनता बढ़ने पर आराध्य के श्री अङ्ग में, केशों में लगे इत्र की मिल-जुली गन्ध आने लगती है।

आराध्य के नूपुर, कंकण, करधनी की ध्वनि आती है—जब वे चलते या हिलते हैं उनके बोलने पर उनकी वाणी सुन पड़ती है।

भली प्रकार परिपक्व चिन्तन होने पर आराध्य के स्पर्श का अनुभव होता है। उनको स्नान करने में, उनका अङ्ग पोंछने में, उनको चन्दन, तेल आदि लगाने में उनके दिव्यस्पर्श की अनुभूति होती है।

इससे अधिक ध्यान की प्रगाढ़ता हो जाय तो आराध्य की इच्छा, उनका संकेत, उनकी रुचि प्रगट होने लगती है। जैसे आपने नैवेद्य के लिए माखन-मिश्री या हलवा उपस्थित किया। अब श्रीरघुनाथ का ध्यान आप करते हैं तो वे कह सकते हैं—‘आज केवल फल मुझे जलपान में लेना है।’

कहीं आपके ध्यान में कन्हाई है तो वह माखन उठाकर आपके मुख में भर दें सकता है और कहेगा—‘इसे तू खा। मेरे लिए मीठे आम ले आ।’

मानसिक-पूजन को एक विधि में मत बाँधिये। कभी आप स्नान करावेंगे, कभी वे स्नान किये मन में आवेंगे। उनकी सेवा का, उनकी रुचि का ध्यान हो, यही मुख्य बात है।

अब न जीवन में षट्सम्पत्ति आयी और न साधनचतुष्टय। यह कोई

सुनने को ही प्रस्तुत नहीं है—

‘निर्विण्णानां ज्ञानप्रयोगोः।’

दृढ़ वैराग्यवान् ज्ञान का अधिकारी है।

साकार का भी ज्ञान होता नहीं और निर्गुण-निराकार के ध्यान से आप नीचे कुछ करना नहीं चाहते।

मन तो कहीं लगता नहीं दो मिनट और आपको जप मानसिक ही करना है।

शरीर तथा शरीर के नाम में अर्थात् व्यक्तित्व में दृढ़ आसक्ति है, तनिक-सी प्रतिकूलता जरा-सी अवमानना क्षुब्ध कर देती है और आप अद्वैततत्त्व के ज्ञान से भला नीचे की बात कर कैसे सकते हैं।

ये सब असम्भव प्रयास हैं। इन प्रयासों में जीवन बीत रहा है और आपको मानसिक सुख, शांति, निश्चिन्तता, निर्भयता जो साधन मात्र का लक्ष्य है, नहीं मिलती तो क्या आश्चर्य। अपने अधिकार के अनुसार जो चलना नहीं चाहता वह असफल तो होगा ही।

उपासना में भगवत्प्रेरणा

“तेरो सत्ता के बिना, पत्ता तक नहीं हिल सके।”

यह विश्व जिस विनोदी का क्रीड़ा-प्रांगण है, उस लीलानायक सूत्रधार की इच्छा के बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। सब उसी चंचल के संकेतों पर चल रहे हैं। जानकर या अनजान में अखिल विश्व उसी की आज्ञाओं का अनुवर्तन करता है। सब उसके विनोदपात्र हैं, उनमें अपनी कोई अच्छाई-बुराई है, तो यही कि वे उस अज्ञात प्रेरक को भूलकर उसके संकेत पर चलने के लिए विवश होते हुए भी उस गति को अपनी मान लेते हैं।

अपनत्व जीव का पुराना रोग है। वह इस अहंकार के फन्दे में अनादिकाल से पड़ा है। मनुष्य योनि में आकर उसे एक अवसर मिलता है, इस जीर्णरोग से छुटकारा पाने के लिए। यदि उसने इस अवसर का सदुपयोग किया तो त्रयताप से मुक्त हो जाता है, नहीं तो उसे युग-युगान्तर तक जलाते रहने के लिए चौरासी लक्ष भट्टियाँ तो बनी बनायी हैं ही।

अहंकार से छुट्टी पाने के दो ही मार्ग हैं, या तो अपने को किसी में मिटा दो

या सबको अपने में लीन कर लो। जो कुछ है, वह प्रेमास्पद का। न मैं और न मेरा, जो कुछ है, सब तेरा। तू एकमात्र तू ही है। अथवा केवल मैं हूँ। यह सम्पूर्ण दृश्य मुझसे निकला है, मेरा स्वरूप है। मेरे अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं। इन दो मार्गों के अतिरिक्त तीसरा कोई मार्ग नहीं। त्वं में अहं का लय करना सगुण मार्ग है और अहं में त्वं का लय करना निर्गुण। दोनों ही उपासना हैं, क्योंकि दोनों भावना प्रधान हैं। मैं और मेरा का अहंकार भी भावना है। इस दृढ़ भावना को 'कण्टकेनैव कण्टकं' के न्याय से अहं के अभाव की भावना द्वारा दूर किया जाता है। इस दृष्टि से साधन मात्र उपासना की श्रेणी में आ जाते हैं।

प्रथम कह चुके हैं, कि विश्व का एक प्राणी भी विश्वनियन्ता की इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता। उसकी इच्छा हो तभी कोई उपरोक्त उपासना करके इस आवागमन से छूट सकता है। वह है समदर्शी। किसी को छुटकारा देना और किसी को बन्धन में रखना वह क्यों चाहेगा? अतः इसके लिए उसने एक नियम बना लिया है। सभी जीवों को एक बार चौरासी लक्ष योनियों में भटकने पर मुक्त होने का अवसर दे दिया जाता है। मनुष्य-योनि देने का अर्थ ही है, कि उसने जीव को मुक्त होने का अवसर दिया। उसकी इच्छा तो है, कि मानव कर्म में स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त करके उसका सदुपयोग करें। अब कोई न करे तो उसका क्या बिगड़ता है, कि वह उसका हाथ पकड़ने आवे। उसने तो अवसर दे दिया, अब वह उससे चाहे अपने बन्धनों को और जकड़ ले या उन्हें खोलकर स्वतन्त्र हो जाय।

मनुष्य-योनि उपासना की ही योनि है। इसका निर्माण उपासना करने के लिए है। परिणामतः मानव उपासना करने के लिए बाध्य है। यह दूसरी बात है, कि वह उपास्य किसी बनाता है। कोई शरीर का उपासक है, कोई धन का, कोई स्त्री का, कोई पुत्र का, कोई मित्रादि परिजनों का, कोई अपने किसी व्यसन का, कोई जाति का, कोई सम्प्रदाय का, कोई देश का, कोई धर्म का, कोई ईश्वर का और कोई और किसी का। कहने का तात्पर्य यह कि सब किसी-न-किसी की उपासना में लगे हुए हैं।

“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।”

उसकी तो प्रतिज्ञा है, कि जो मेरी जिस रूप या भाव से उपासना करता है,

मैं उसे उसी रूप से प्राप्त होता हूँ। यह तो निश्चित है कि उपासना होती उसी की है। किसी की भी उपासना हो, वह उसी की उपासना है। उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं। सब रूपों में वही है। किन्तु वह कहता है, किस इस प्रकार के उपासक “यजन्त्यविधिपूर्वकम्” अविधिपूर्वक उसकी उपासना करते हैं। फलतः “भूतान्यान्ति भूतेज्या” स्थूल भूतों की उपासना करने वाले उन्हीं को प्राप्त होते हैं। यह नियम है कि जो जिसकी उपासना करेगा, वही उसे बनना पड़ेगा।

किसी की भी उपासना करो तुम्हें स्वतन्त्रता है। इसके अतिरिक्त वह उस उपासना में सहायता भी देता है। उसकी सहायता के बिना कोई उपासना चल नहीं सकती। उपासना मात्र में उसकी प्रेरणा प्राप्त होती है।

“यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥”

जो जो भक्त जिन-जिन रूपों की श्रद्धापूर्वक उपासना करना चाहते हैं, उन उनकी उन्हीं-उन्हीं रूपों में अचल श्रद्धा कर देता हूँ। यह है, उस नटखट का वचन। मानव-जीवन में श्रद्धा का परिपाक करने में वह सहायता देता है; परन्तु श्रद्धा की दिशा का निश्चय मनुष्य को स्वयं करना पड़ता है। उसने तो ‘सब धान बाईस पैसेरी’ का हिसाब कर रखा है। चाहे पतनोन्मुखी श्रद्धा कर लो चाहे मोक्षोन्मुखी। उसे तो उस श्रद्धा को तुम्हारे चुने हुए मार्ग में अचल कर देना है अतः श्रद्धा की दिशा का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिये।

“लभते च ततः कामान्मयैव विहितानि तान्।”

श्रद्धा अचल करके आप फिर उसके फल का विधान भी करने लगते हैं। चाहे जिसकी उपासना करो, होगी उन्हीं की उपासना। उस उपासना की शक्ति और प्रेरणा भी वही देंगे और उसके फल प्रदाता भी वही हैं। इतना होते हुए भी भाव-भेद से फल-भेद हो जाता है। कोई तो भूत, जड़ या पशु आदि योनियों को पाता है और कोई “यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्” के अनुसार साक्षात् उन्हें प्राप्त कर लेता है।

“भाववश्य भगवान्” प्रभु तो भावाधीन हैं। यह विश्व भी भावना का प्रतिरूप है। यहाँ भावना ही प्रतिफलित होती है। अतएव भाव की शुद्धि परमावश्यक है। भाव को शुद्ध करके उपासना का लक्ष्य उच्चतम बनाना

चाहिए। उसकी पूर्णता का भार हम पर उतना नहीं, जितना उस परमोपास्य पर है। उसके लिए शक्ति तो वह स्वयं देगा। उपासना में अचल श्रद्धा कर देने की उसने प्रतिज्ञा की है। हमें यदि कुछ करना है तो इतना ही कि उसकी मङ्गलमय प्रेरणा पर विश्वास करके निश्चय करना है—

“चतुराई चेतना सभी चूल्हे में जावे।
बस मेरा मन एक ईश-चरणश्रय पावे॥”

समदृष्टि

‘साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।’ —गीता 6/9

आयु में बहुत छोटा था, यही कोई नौ वर्ष का। मुझे अक्षर ज्ञान से पहिले ही पिताजी ने दुर्गा-कवच और हनुमान-चालीसा रटा दिया था। अक्षर ज्ञान होने पर प्रतिदिन श्रीरामचरितामनस के सुन्दरकाण्ड का पाठ करने लगा।

पिताजी निष्ठावान श्रीदुर्गा-भक्त थे। 6 वर्ष की आयु से मुझे अपने समीप पृथक खटोले पर सुलाते थे। प्रातः चार बजे उठते तो मुझे भी उठा देते। शीतकाल में भी कुएँ के जल से अपने साथ मुझे भी नहला देते। उनको मैं स्नान करके दुर्गा-कवच सुना देता था। तब वे अपनी पूजा में बैठ जाते थे और मैं फिर सो जाता था। पिताजी को तो पूजा से दस-ग्यारह बजे उठना था। माँ मेरे शीघ्र उठ जाने के पक्ष में नहीं थी; क्योंकि उठने पर मुझे भूख लगती थी और शाम की रोटी को भी मैं ‘सड़ी’ कह देता था। अतः माँ घर के काम निबटाकर स्नान कर ले, उसके बाद मैं उठूँ, यही उसे ठीक लगता था।

मैंने एक दिन पिताजी से पूछा—‘ये देवी भगवती इतने हथियार लिए रहती हैं, चोरों को मार क्यों नहीं देती।’

पिताजी ने डाँट दिया—‘भगवती तुझसे पूछकर काम करेंगी?’

पिताजी से डर लगता था, मैं चुप हो गया; किन्तु मेरा प्रश्न चुप नहीं हुआ। मैंने बड़े होने पर भी कई विद्वानों एवं महात्माओं से पूछा।

केवल एक संत ने समझाया—‘यदि कोई रावण न बने तो रामलीला होगी?’

सचमुच तब रामलीला कैसे होगी? फिर जो रावण बनेगा उसे रामजी को बुरा-भला तो कहना ही पड़ेगा इसमें उसका दोष या अपराध?

बौद्धिक रूप से समझता हूँ कि यह जगत रामलीला है। ऐसी रामलीला जिसे श्रीराम ही संचालित कर रहे हैं, अतः गीता ठीक कहती है—‘साधुषु च पापेषु समबुद्धिर्वि शिष्यते।’

लेकिन बात बुद्धि से आगे गले नहीं उतरती जीवन में नहीं आ रही—आपके गले उतरती है?

आपकी महत्व—बुद्धि कहाँ है?

एक महिला ने पूछा—‘वृक्ष पर रहने वाले महात्मा कहाँ है?’ मैंने उन्हें पास बैठा पक्षी दिखला दिया तो वे ही नहीं, समीप खड़े एक सज्जन भी अप्रसन्न हुए। कोई महात्मा आस-पास वृक्ष पर रहते हैं, यह मैं नहीं जानता था।

अमुक महात्मा दिगम्बर रहते हैं। अमुक महात्मा केवल टाट पहनते-ओढ़ते हैं। अमुक केवल दूध पीकर रहते हैं। अमुक फलाहारी है।’ इस प्रकार चर्चा लोग बड़ी श्रद्धा से करते हैं।

खड़ेश्वरी (वर्षों तक खड़े ही रहने वाले), ऊर्ध्वबाहु (एक हाथ सदा उठाये रखने वाले) सर्दियों में भी गंगोत्तरी या अन्य हिमप्रदेश में बिना धूनी के दिगम्बर रहने वाले महात्मा भी मैंने देखे हैं। मैंने वर्षों पूर्व एक साधु के दर्शन किये, वे एक सरोवर के किनारे पत्थर की एक पटिया पर केवल लंगोटी लगाये पूरे बारह वर्ष पड़े रहे। इन बारह वर्षों में सर्दी, गर्मी, वर्षा में वे उस खुले पत्थर पर तो रहे ही, मौन रहे और वह भी काष्ठमौन और केवल दूध पीकर रहे।

ये महात्मा लोगों की श्रद्धा बलात् आकर्षित कर लेते हैं। भीड़ इनके आस-पास एकत्र होने लगती है। ये शीघ्र लोकश्रद्धा-भाजन हो जाते हैं। ये लोक-श्रद्धेय नहीं हैं—ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। लोग पीड़ित हैं, दुःखी हैं। रोग, अभाव, पीड़ा उन्हें घेरे हैं। ऐसे लोगों को आश्वासन चाहिए। किसी को रोग से छूटना है, किसी को दरिद्रता से, किसी को मुकदमा जीतना है, किसी को चुनाव, किसी को पुत्र चाहिए, आशीर्वाद चाहिए, किसी को धन या पद। ऐसे आर्त या अर्थार्थी लोगों को आशीर्वाद चाहिए। इस प्रकार का आशीर्वाद देने की शक्ति सिद्ध या तपस्वी में ही सम्भव है। अतः जहाँ सम्भावना है, वहाँ लोग जाते हैं तो ठीक करते हैं। ठगी भी सत्य की आड़ में ही चलती है।

बात संसारी की नहीं—साधक की कहनी है यहाँ। साधक जब ऐसे तपस्वियों की ओर आकर्षित होता है, क्या आशा करता है? आशीर्वाद देकर किसी का मन न वश में कराया जा सकता है और न भगवान् में लगाया जा सकता है। ऐसा कुछ कोई करे भी तो वह अत्यल्पकालिक होगा। नशे से मन को मूर्च्छित करने के समान व्यर्थ होगा।

जब आप किसी को महत्त्व देते हैं—किसी को बहुत बड़ा मानते हैं तो अनजाने में ही दो बातें होती हैं—1. आपके अन्तर्मन में एक हीनत्व का भाव आता है कि हम ऐसे नहीं हुए, 2. वैसा होने की इच्छा होती है।

साधक के लिए ज्ञानी और भक्त का तो महत्त्व है। उसे ऐसा बनना है। यह उसका प्राप्य है। लेकिन त्यागी, तपस्वी के बाह्य त्याग, बाह्य तप को देखकर यदि आप उसे महत्त्व देते हैं तो आपके अन्तःकरण को एक भ्रान्त प्रेरणा मिलती है। एक गलत दिशा में आप अपने को प्रोत्साहित करते हैं।

तप के—त्याग के मार्ग से आपको जाना है तो बहुत उत्तम बात। तब त्यागी-तपस्वी आपके आदर्श हैं, पूज्य है। आपको ज्ञान के या भक्ति के मार्ग से जाना है तो त्यागी, तपस्वी आपके लिए महान् नहीं है। ध्यान देने योग्य नहीं हैं। आपके लिए ज्ञानी या भक्त महान् है। महत्त्व उसे दीजिये, जिसके मार्ग से आप बढ़ना चाहते हैं। आप जैसा बनना चाहते हैं, जो वैसा है—यह आपके लिए महान है।

ये छोटी बातें

एक सज्जन का पत्र आया उसमें त्याग-वैराग्य की ऊँची बातें थी। भगवद्-दर्शन की बहुत व्याकुलता बताई गयी थी। साथ ही लिखा था—‘मैं चोटी नहीं रखता। जनेऊ नहीं पहनता। सन्ध्या नहीं करता।’

मुझसे साधन पूछा था। लिखा था—‘कठिन से कठिन जो भी साधन कहें, करूँगा।’

मैंने लिखा—‘चोटी रख लीजिये। किसी उत्तम कर्म-काण्ड के ज्ञाता ब्राह्मण को बुलाकर गोदान, प्रायश्चित्त करके यज्ञोपवीत संस्कार करा लीजिए। नियमित सन्ध्या कीजिये और माला लेकर जप कीजिये।’

उत्तर आया—‘चोटी, जनेऊ, माला तो मैं रख नहीं सकता। इनके रखने में लज्जा आती है। कोई और उपाय बतलाइये।’

वे ब्राह्मण हैं। आज अमेरिका में सहस्रों युवक अमेरिकन घुटे सिर पर चोटी रखे, तिलक लगाये, कण्ठी बाँधे वाशिंगटन की सड़कों पर गले में मृदङ्ग (खोल) लटकाये ‘हरे कृष्ण हरे राम’ का कीर्तन करते करते नाचे जुलूस निकालते हैं और भारत में ब्राह्मण पुत्र को चोटी, जनेऊ, माला रखने में लज्जा आती है। सो भी आस्तिक, भगवद्दर्शन की कामना रखने वाले ब्राह्मण को।

अब जो कल्पित लज्जा तक नहीं छोड़ सकता, वह देह का, परिवार का मोह—सम्मान की तृष्णा छोड़ देगा और अन्तर्मुख हो जायगा, यह बात क्या उसके कितना भी जोर देकर कहने से मानने योग्य है?

अतः आप देखिये कि आप जो महान लक्ष्य लेकर चले हैं, उसके अनुकूल रहन-सहन, आचार-आहार आपका है या नहीं और आप उसमें आवश्यक परिवर्तन के लिए खूब बड़ी सीमा तक कष्ट सहने—लोगों का उपहास सहने को भी प्रस्तुत हैं या नहीं?

एक महिला आर्यी मेरे समीप। लगभग वृद्धा थीं। गले में खादी का मोटा यज्ञोपवीत स्पष्ट दीख सकता था। उनका प्रश्न था—‘गायत्री जप-के साथ निराकार का ध्यान कैसे किया जाय?’

मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई यह समझने में कि वे आर्य समाज की सदस्या हैं। मैंने उनसे कहा—‘स्वामी दयानन्द जी ने योग को ही साधन माना है। योग का साधन जो ध्यान है, वह प्रणव के अर्थ-चिन्तन की धारणा का परिपक्व रूप है। योग का लक्ष्य ध्यान नहीं है—चित्तनिरोध है।’

आप तो ध्यान बतला दीजिए। उनका आग्रह था।

मैंने कहा—‘निराकार का ध्यान संभव नहीं है। अतः वृत्ति निरोध को ही वहाँ ध्यान कहा जाता है।’

‘गायत्री जप?’ उन्होंने फिर पूछा।

‘मैंने आपको यह जप बतलाया नहीं। मैं यह जप छोड़ने को कहने आपके पास गया नहीं। आप मुझसे पूछती हैं तो इस विषय में मार्ग-दर्शन नहीं दे सकता; क्योंकि गायत्री जप का अधिकार स्त्री को नहीं है, मैं इस

मान्यता को रखने वाला हूँ।'

उनका समाधान नहीं हुआ। उन्होंने तर्क नहीं किया; किंतु दुःखी मन से गर्यीं।

बात क्या हुई? बात यह हुई कि वे गलत स्थान पर पूछने आयीं थी। उनकी मान्यता ठीक है या नहीं, यह भिन्न बात है; किंतु यह मुख्य बात है कि आपको मार्ग-दर्शन लेने, समझने वहाँ नहीं जाना चाहिए, जहाँ आप जानते हैं कि आपकी निष्ठा, आपके साधन का समर्थन आपको नहीं मिलने वाला है।

या तो मार्ग-दर्शन लेने जाना चाहिए उसे जो क, ख से प्रारम्भ करने को प्रस्तुत हो। अथवा उसे जाना चाहिए जो जानता हो कि यहाँ मेरे साधन, मेरी निष्ठा का समर्थन, प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

एक साधक यात्रा में थे। ट्रेन से उतरे तो अपनी पेटी, बिस्तरा सब सम्हाल कर ले आये। छाता भी साथ आया था। लेकिन पूजा का झोला ट्रेन में भूल आये थे।

मुझसे उन्होंने पूछा—'भगवान् का श्रीविग्रह तो झोले में रह गया, अब क्या करना चाहिए।'

मैंने कठोरता से कह दिया—'अन्न, जल छोड़कर शरीर त्याग किया जाना चाहिए।'

'इतना निष्ठुर उत्तर देते हैं आप?' वे रुष्ट हुए।

अब उनसे क्या कहता। शरीर इतना प्रिय क्यों है कि शरीर को सुख-सुविधा देने वाली प्रत्येक वस्तु तो स्मरण रही, सम्हाल कर उतार ली गयी; किंतु पूजा की स्मृति ही नहीं आयी। ऐसे व्यक्ति को पूजा करने का—भगवान् के श्रीविग्रह को रखने का अधिकार है क्या? कहीं उसके हृदय को पूजा ने स्पर्श किया है?

यदि वह सचमुख शरीर छोड़ता तो किसके लिए छोड़ेगा? क्या चिन्तन करना छोड़ेगा?

भगवान् के श्रीविग्रह की प्राप्ति के लिए जो शरीर छोड़ेगा—किसी महान् दुर्भाग्य से वह श्रीविग्रह उसे मरने से पूर्व न मिल जाय (लगभग सौ प्रतिशत संभावना मिल ही जाने की है) तो क्या भगवल्लोक जाने से उसे रोकने वाला कोई है?

अनेक लोग पाठ की पुस्तक, माला-झोली जहाँ-तहाँ भूल जाते हैं। यह क्या है? प्रमाद है यह और—

'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।'

'प्रमाद मृत्यु है। जिनकी स्मृति इतनी दुर्बल है कि वे अपना रुपया, मनीबैग, टोपी आदि भी स्थान-स्थान पर भूलते रहते हैं, वे तो रोगी हैं। उनकी स्थिति पर दया की जानी चाहिए; किंतु जो रुपया नहीं भूलते, जो टोपी-छाता नहीं भूलते, वे पुस्तक-माला क्यों भूलते हैं? इसका अर्थ है कि माला या पुस्तक का महत्त्व उनके मन में मनीबैग के बराबर भी नहीं है।

ऐसे लोग माला या टोपी भूलने पर दो समय का भोजन, दूध, फल, चाय सब छोड़ दें तो मन में स्वयं माला एवं ग्रन्थ का महत्त्व बन जायगा।

'यह कठिन है' आप यह सोचते हैं तब भूल करते हैं। यह उपवास चार-छः दिन को रोगी भी कर दे तो हानि क्या है? शरीर की अपेक्षा मन में माला तथा ग्रन्थ का महत्त्व अधिक बनेगा और यह महान लाभ होगा आपको।

लोक सेवा

एक महापुरुष कभी-कभी कहते थे—

'बाप रे बाप!

परोपकार महापाप।

उनकी लगभग सहस्र पृष्ठ की जीवनी छपी; किन्तु उसमें इसकी चर्चा नहीं है। क्यों? इसलिए कि इसमें अन्तर्निहित महान तथ्य को जीवनी-लेखक समझ ही नहीं सका।

एक मित्र ने मुझसे पूछा—'लोकोपकार—लोक-सेवा के विषय में आपकी क्या राय है।'

मैंने कहा—'लोक पर दया कीजिये। ऐसा कोई अपराध लोगों ने, समाज ने नहीं किया है कि आप उसका अपकार करने के लिए कमर कसें।'

बात उनकी समझ में आयी या नहीं—वे जानें किन्तु तथ्य ध्यान देने योग्य हैं—

1-लोक-सेवा या लोकोपकारी बात अहंकार-मूलक है। इसमें यह

अन्तर्निहित है कि मैं समर्थ हूँ, श्रेष्ठ हूँ। मेरे पास शक्ति, साधन, सम्पत्ति या बुद्धि अधिक है और लोग दरिद्र हैं, दुःखी हैं, मूर्ख हैं। मैं उनकी सेवा करूँगा, उन्हें सुख पहुँचाऊँगा, उन्हें सन्मार्ग दिखलाऊँगा।

जो भी यह अहं लेकर सेवा करने चलेगा, उसका अहंकार बढ़ता जायगा। जब उसकी बात नहीं सुनी जायगी, उसके प्रति उचित कृतज्ञता (जिसे वह भी उचित समझ ले) लोग नहीं प्रगट करेंगे तो उसमें रोष, क्षोभ, निराशादि उत्पन्न होंगे।

2-जो स्वयं अपूर्ण है, जिसके आचार-विचार या आहार में कोई भी दुर्बलता शेष है, वह लोक-सेवा के क्षेत्र में जायगा तो सेवा कितनी कर पावेगा, यह तो पृथक् बात है; किन्तु उसके दोष-दुर्बलता-व्यसन अवश्य समाज में व्यापक हो जायँगे।

यह ऐसा ही है जैसे हाथ में कीचड़ लगाकर कोई मुहल्ले भर के कपड़े धोने को ले आवे। कपड़े स्वच्छ तो होने से रहे, उसके हाथ का कीचड़ अवश्य उन पर फैल जायगा।

समाज में व्यक्ति का जैसे-जैसे प्रचार बढ़ता है वैसे-वैसे उसके आचार-विचार आदि की दुर्बलताओं को लोग अनुकरणीय मान कर ग्रहण करने लगते हैं।

3-सबके अपने-अपने प्रारब्ध हैं। सृष्टि का कर्ता, संचालक एक ईश्वर है और वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा दयालु है। इन दोनों तथ्यों की ओर से आँख मूँदे बिना लोक-सेवा की बात नहीं की जा सकती।

जिनका व्यवसाय ही लोक-सेवा, समाज-सेवा है। उनसे तो कुछ कहना नहीं है; क्योंकि जैसे सब व्यवसाय अपने लाभ के लिए किये जाते हैं, वैसे ही यह सब भी एक व्यवसाय है इस युग का और इसमें बहुत चतुर व्यवसायी लगते हैं। वे धन-यश-पद आदि सब लाभ ही लाभ उठाना चाहते हैं।

बात है साधक की। उसे समझना चाहिए कि स्वयं पूर्ण हुए बिना जो लोक-सेवा-लोकोपकार में लगेगा, वह अपना और लोगों का अपकार करने से अपने को किसी प्रकार बचा नहीं सकता। अहंकार सदा सर्वत्र अनर्थकारी है। उसे लेकर जाने पर लोगों का उपकार नहीं-अपकार ही होगा।

सचमुच लोक-सेवा—

इनका ठीक सूत्र दिया था महात्मा गांधी ने। उनका दिया सूत्र—शब्द तो बहुत प्रचलित हुआ; किन्तु उसके अर्थ पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। उनका दिया शब्द है—जनता-जनार्दन।

जनता जनार्दन है और जनार्दन सेव्य है, किन्तु भूलिये मत-कि जनार्दन दयानीय, दुःखी, अभावग्रस्त असमर्थ कभी नहीं होते। आप समर्थ, बुद्धिमान बनकर उन पर दया नहीं कर सकते।

जनार्दन सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, श्रीपति हैं। उनको न अभाव छूते, न रोग, न दुःख। लेकिन वे लीलामय हैं उन्होंने लीला से रोगी, दुःखी, अभावग्रस्त, अज्ञानी का रूप बना लिया है। जनता के इन नाना रूपों में वही लीलामय हैं।

ऐसी लीला उन्होंने आप पर दया करके की है। इसलिए की है कि आपके पास जो धन, शक्ति, साधन, बुद्धि है, वह इन रूपों में उन सर्वेश की सेवा में अर्पित होकर सार्थक बने।

अतः जब आप सेवा करते हैं—आप सेवक होते हैं। परोपकार करते हैं तो जिसका परोपकार करते हैं, वह दयनीय नहीं होता वह श्रेष्ठ होता है। वह सेव्य है। उसकी कृपा है कि उसने आपकी सेवा स्वीकार की।

‘जनता-जनार्दन’ शब्द का यह सूत्र आपने समझा हो तो आप सेवा-परोपकार करने के अधिकारी हैं और आप लोकसेवा कर सकते हैं।

बंगाल की एक संस्था मध्यकाल में प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वानों को पुरस्कृत करती थी। एक वर्ष उसका विवरण प्रस्तुत हुआ वार्षिकोत्सव में सुनने के लिए तो मन्त्री ने लिखा था—‘निम्न विद्वानों को इस वर्ष पुरस्कृत किया गया।’

अध्यक्ष ने विवरण मन्त्री को लौटाते हुए कहा—‘इसे बदलो। लिखो कि, निम्न विद्वानों ने संस्था की आर्थिक सेवा स्वीकार करके हमें गौरवान्वित किया।’

यह सेवा का मूल-सूत्र है। आप ऐसा करते हैं तो आपको योजना नहीं बनानी पड़ेगी। आपको सेवा का क्षेत्र नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा।

जनार्दन का एक स्वभाव है—वे प्रेम के भूखे रहते हैं। आप में उनकी सेवा करने की ललक है तो वे स्वयं नाना सेव्य रूप बनाकर आपके सामने आते रहेंगे।

सच्ची सेवा केवल भगवान् की ही हो सकती है। भूलिये मत कि जनार्दन मानकर जब जनता की सेवा की जायगी तभी सच्ची सेवा, सचमुच लोक का उपकार होगा।

लोक को दुःखी, दरिद्र, अभावग्रस्त, उत्पीड़ित, मूर्ख मानकर जो लोकसेवा—लोकोद्धार करने चलेगा वह लोकापकार ही करेगा और अब तक ऐसे लोकोपकारकों से लोकापकार ही हुआ है।

धन-मद, अभिमान, तिरस्कार और प्रताड़ना के साथ दिया हुआ दान नहीं होता। 'श्रद्धया देयम्' श्रद्धा के साथ दिया हुआ दान दान कहलाता है।

लोक-कल्याण कौन करेगा?

लोक-कल्याण पामर करेगा नहीं। उसे तो पाप करने में—लोगों को सताने, पीड़ा देने, अपमानित करने में सुख मिलता है।

विषयी से लोक-कल्याण की आशा नहीं है। क्योंकि उसको अपनी इन्द्रिय-तृप्ति चाहिए। अवश्य ही इन्द्रिय-तृप्ति उसे धर्मपूर्वक प्राप्त विषयों से चाहिए।

साधक को अपना कल्याण करना है। वह यदि लोक-कल्याण में लगा तो कर चुका साधन।

अब रहे सिद्ध सो यदि वे आत्म-ज्ञानी हैं तो उनके लिए संसार स्वप्न के समान है। स्वप्न पुरुषों का कल्याण, अकल्याण कोई अर्थ ही नहीं रखता। यदि वे भक्त हैं तो—

सीय राममय सब जग जानी।

भला-प्रभु का कल्याण कोई क्या करेगा। प्रभु तो कल्याण स्वरूप ही है।

ज्ञानी महापुरुष का व्यवहार उसकी मौज है और मौज अनियन्त्रित होती है। भक्त का प्रयत्न भगवत्सेवा के निमित्त है। वह रोगी को दवा देता या उसकी सेवा करता है तो इसलिए नहीं कि रोगी अच्छा हो जाय। उसकी दृष्टि

में न रोग है, न रोगी; उसके लीलामय प्रभु रोगी बनकर उसकी सेवा लेने आये हैं, अतः वह सेवा कर रहा है। सेवा में वह सन्तुष्ट है। रोग के मिटने-न-मिटने की उसे न चिन्ता है, न व्याकुलता।

तब लोक-कल्याण करेगा कौन?

इसे दूसरे ढंग से सोचना उचित होगा कि लोक-कल्याण पुरुषार्थ है या नहीं; और है तो किसका यह पुरुषार्थ है अथवा किस पुरुषार्थ का अंग है।

अर्थ पुरुषार्थी जब लोक-कल्याण करता दीख पड़ता है, तब वह वस्तुतः व्यापार कर रहा होता है। वह अपने दान-सेवा आदि से मूल्य चाहता है। उसका दान, उसकी सेवा उसके व्यापार का विज्ञापन है अथवा उसने हिसाब लगा लिया है कि अमुक को इतना चन्दा देकर वह उनसे किस प्रकार कितना लाभ उठावेगा। ऐसे लोगों की समाज में भरमार है। आप इसे जानते हैं।

भोग पुरुषार्थी कहीं परहित में लगता है तो उसका अभिप्राय बहुत कुटिल होता है। वह लोगों को अपने उपकार से उपकृत करके अपने भोग का या तो साधन उन्हें बनाना चाहता है या उनके द्वारा अपने किसी विरोधी का अनिष्ट करना चाहता है। ऐसे परोपकारियों की भी समाज में कमी नहीं है।

अर्थ पुरुषार्थी और काम पुरुषार्थी वस्तुतः स्वार्थी होते हैं और उनसे लोक-कल्याण हो नहीं सकता। वे लोकोपकारक कहलाना चाहते हैं और लोकहित के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

मोक्ष पुरुषार्थी में सिद्ध पुरुष के द्वारा बिना उसके चाहे स्वयं लोकहित होता रहता है। वह स्वयं कल्याण स्वरूप है, किन्तु लोक को अपने आत्मस्वरूप या आराध्य से पृथक् मानकर उसके कल्याण का संकल्प करके किसी प्रवृत्ति में वह लग नहीं सकता। यह उसके स्वभाव के अनुकूल नहीं है। वह तो सूर्य, चन्द्र, वायु के समान है, जिससे सहज सबका हित होता है।

मोक्ष के साधक का लक्ष्य आत्म-ज्ञान अथवा भगवद्-भक्ति की प्राप्ति है। इसके लिए उसे अपना अन्तःकरण शुद्ध करना है। यदि वह लोक-हित में लगता है तो लोगों के गुण-दोष के चिन्तन में लगना पड़ेगा। और यह बात साधन के सर्वथा विपरीत है। अतः साधक आत्म-कल्याण के प्रयत्न को ही प्रधान मानता है।

ज्ञान, भक्ति और योग इन तीनों के साधकों के लिए लोक-व्यवहार से यथासम्भव उपरत होकर विविक्त सेवी होना मंगलकारी माना गया है। अतः इनके लोक-कल्याण में लगने को साधनच्युति ही माना जायगा। वैसे साधक का अपना साधन स्वतः लोक के लिए हितकारी होता है। उससे सबका मंगल होता है। समाज को उससे संयम, सदाचार, सात्त्विकता की प्रेरणा मिलती है।

मोक्ष पुरुषार्थ का एक साधन है निष्काम कर्मयोग। यह मोक्ष का सबसे निम्न श्रेणी का साधन है। क्योंकि **कर्म योगस्तु कामिनां**। जो साधक बहुत अधिक वासनावान है। उसकी वासनाओं को कम करने के लिए यह मार्ग है। वासनाएँ दुर्बल हो जाने पर वह योग, ज्ञान या भक्ति का अधिकारी होता है। यह निष्काम-कर्म करने वाला मोक्ष पुरुषार्थी साधक लोक-कल्याण में लगता है।

ठीक-ठीक लोक-कल्याण धर्म पुरुषार्थी ही कर सकता है और यह उसी का करणीय है, क्योंकि—**लोको धर्मे प्रतिष्ठितः।**

यह लोक धर्म में—धर्म से प्रतिष्ठित हैं। समाज की सुख-शान्ति उसके सत्य, संयम, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, परस्पर सहयोग पर निर्भर करती है।

इसीलिए सच्चा लोकहित धर्माचार्य ही कर सकते हैं। लेकिन एक बात स्मरण रखिये कि धर्माचार्य वे नहीं हैं जो राग-द्वेष फैलाते हैं। जो सचमुच धर्माचार्य है, वह संकीर्ण वृत्ति वाला हो नहीं सकता।

जिसे अर्थ का लोभ नहीं है। जो अपने या अपने परिवार के लिए भोग नहीं चाहता। मोक्ष की कामना जिसमें जगी नहीं है या पूर्ण हो चुकी है ऐसे दोनों ही धर्म प्रेमी हों तो वे लोक-कल्याण के अधिकारी हैं। लोकहित उनके द्वारा ही ठीक होता है।

यश की कामना भी धर्म पुरुषार्थ के ही अन्तर्गत है—अतः यश की कामना वाला भी लोककल्याण करने में लग सकता है और उससे ठीक लोक-हित होता है। अर्थ एवं भोग-पद, अधिकारी की लिप्सा से निरपेक्ष केवल यश चाहने वाला—अपनी प्रसिद्धि की इच्छा रखने वाला लोक-मंगल का उचित कर्ता है और इस धर्म पुरुषार्थ में दोष नहीं माना जाता।

प्रभु का प्रसाद

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया था। पूर्वी जर्मनी से भागकर आये निराधार लोगों के पुनर्वास की व्यवस्था पश्चिमी जर्मनी का जो विभाग करता था, उसके प्रमुख का नाम था मिडिलमैन। एक दिन वे महोदय एक वृद्धा की झोपड़ी पर पहुँचे। झोपड़ी में मात्र दो देवदार की पेटियाँ थीं। उनमें एक पर फूलों का एक गमला रखा था।

बारह व्यक्तियों के परिवार में केवल चार बचे थे। आठ युद्ध में मारे गये थे। दो युवक मजदूरी करने गये थे। लड़की बर्तन मल रही थी। मिडिलमैन इस दरिद्र झोपड़ी को देखकर चकित रह गये, जब उन्हें पता लगा कि वृद्धा युद्धपूर्व 6 सौ एकड़ भूमि की स्वामिनी थी।

‘माताजी, आपको अपने सुखी जीवन का स्मरण दुःख नहीं देता?’ प्रसन्नमुख वृद्धा से मिडिलमैन ने पूछा।

वृद्धा हँसकर बोली—‘दुःख तो तब हो जब हम दुःख को दुःख मानें। प्रभु हमारे जीवन को सम्पूर्ण परिष्कृत करने के लिए दुःख भेजते हैं। यह उनका प्रसाद है तो दुःख कैसा?’

मिडिलमैन श्रद्धापूर्वक उस वृद्धा के आगे झुक गये।

प्रार्थना विश्वास के साथ

अमेरिका के एक गाँव में वर्षा नहीं हुई थी। बरसात के दिन सूखे निकले जा रहे थे। खेत सूखे पड़े थे। किसान पानी के लिए व्याकुल थे।

गाँव के लोगों ने वर्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने का निश्चय किया। वे सब लोग गिरिजाघर में प्रार्थना करने इकट्ठे हुए।

सब लोग जब वर्षा के लिए प्रार्थना करने लगे तो एक नौ-दस वर्ष की लड़की उठकर भागी और घर से छता लेकर दौड़ी-दौड़ी आयी।

एक ने पूछा—‘तुझे इतनी धूप लगती है?’

लड़की—‘धूप नहीं लगती।’

पूछने वाला—‘तब छता क्यों ले आयी?’

लड़की—‘पूछना तो मुझे था कि तुम लोग सब छता क्यों नहीं लाये?’

‘छाता क्या होगा?’

लड़की—‘तब सब भीगते-भीगते जाआगे? मुझे तो भीगना पसन्द नहीं है’

वह—‘भीगना कैसा?’

लड़की—‘हम सबने अभी ईश्वर से पानी बरसने की प्रार्थना की है।

वर्षा तो होने ही वाली है।

सचमुख प्रार्थना समाप्त करके लोग गिरजाघर से निकले तो देखते-देखते आकाश घटाओं से भर गया। इतनी तेज वर्षा हुई कि सब भली प्रकार मार्ग में ही भीग गये।

केवल वह लड़की छाते को ताने हँसती-हँसती बिना भीगे घर पहुँची।

उसकी विश्वास के साथ की गई प्रार्थना ईश्वर ने स्वीकार कर ली थी। उस दिन उस गाँव में जो वर्षा हुई, वह उस अकेली लड़की की प्रार्थना से ही हुई थी।

गंगा की पावनता

‘गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि

मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।

जो गंगा, गंगा यह शब्द कहता है, वह भले गंगाजी से सैकड़ों योजन दूर हो, सब पापों से छूट जाता है और मरने पर वैकुण्ठ जाता है।

भगवान् आदिशंकराचार्य जी कहते हैं—

भगवद्गीता सकृदप्यधीता,

गंगाजल लव कणिका पीता।

जिसने एक बार भी भगवद्गीता पढ़ी या गंगाजल की नर्हीं बूँद भी पिया, यमदूत उसका क्या बिगाड़ लेंगे।

यह बात तो हुई शास्त्र और महापुरुष की; किन्तु गंगा किनारे की बस्तियों में आपको रोगी, दुःखी, दरिद्र, पीड़ित लोग मिलते हैं या नहीं? और रोग, दुःख, दरिद्रता पाप का फल है या पुण्य का फल?

आप कह सकते हैं कि गंगा किनारे रहने वाले या पहुँचने वाले लोग पहिले जन्मों के पाप का फल भोग रहे हैं और प्रारब्ध के पाप-पुण्य तो भोगे बिना नष्ट नहीं होते। उन्हें भोगना ही पड़ता है। उनमें कोई पूर्व जन्मों में

गंगाजी तक नहीं पहुँचा था।

आपकी बात ठीक हो सकती है, किन्तु एक और तथ्य ध्यान देने योग्य है कि देवता अपने अपराधी को प्रायः नहीं क्षमा करते। अतः जो गंगा जी को पावनकारी शक्ति नहीं मानते, उनकी अवमानना करते हैं, उन्हें गंगा पापमुक्त करेगी?

भावेषु विद्यते देवो न देवामृच्छिला मयाः।

देवता मनुष्य के भाव में होते हैं उनकी शक्ति मनुष्य की श्रद्धा-विश्वास से प्रकट होती है।

एक बार मैं एक तीर्थ में पहुँचा। एक संत गंगा स्नान करके बैठे थे। मैं कमरभर गंगा में कूदकर उनके चरण स्पर्श करने बढ़ा तो उन्होंने संकेत किया कि मैं पहिले डुबकी लगाकर तब उनका स्पर्श करूँ।

मुझे हँसी आ गयी। सचमुच गंगा उन्हें मिली होती; गंगा की पावनता में उनकी आस्था होती तो गंगा में खड़े नहीं गंगा तट पर पहुँचे व्यक्ति के भी अपवित्र रह जाने की बात उनके मन में आती?

गंगा स्नान कीजिए—पर गंगा की पावनता में दृढ़ आस्था रखकर।

रामाय रामभद्राय

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।

रघुनाथाय नाथाय सीतायापतये नमः॥

श्रीराम मन्त्रों में से यह एक प्रमुख मन्त्र है और श्रीराम-भक्तों के लिए गायत्री के समान महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है।

इसका अर्थ देख लें—

रामभद्राय—कल्याण स्वरूप, निखिल मंगलकारी श्रीराम। अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के परम-पालक।

रामचन्द्राय वेधसे—वेधा अर्थात् ब्रह्मा, निखिल ब्रह्माण्डों के विधायक समस्त सृष्टि के उत्पत्ति-मूल।

रामाय रघुनाथाय—केवल निर्गुण-निराकार रूप से ‘रमन्ते योगिनो यस्मिन्’ जिनमें योगी लोग तन्मय होते हैं, वही सर्वान्तर्यामी ही नहीं।

रघुनाथाय—रघुवंश-भूषण, सगुण, साकार, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीदाशरथिराम।

सीतायापतये—सगुण निराकार भी नहीं, शक्ति समन्वित श्रीजनकनन्दिनी के स्वामी श्रीराम।

नाथाय रामाय नमः—ऐसे सगुण साकार शक्ति समन्वित, निखिल ब्रह्माण्ड विधायक, पालक सर्वेश्वरेश्वर हमारे अपने स्वामी हैं, उन अपने स्वामी श्रीराम को हम नमस्कार करते हैं।

कहा जाता है कि मन्त्र का सम्पूर्ण प्रभाव तब प्रकट होता है, जब उसका अर्थ समझकर हमारा चित्त उस अर्थ के भाव से भावित तदाकार होता है। इसलिए अर्थज्ञान आवश्यक माना गया है।

दूसरी बात कोई कितना भी महान हो, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं तो उसके प्रति हमारी प्रीति, भक्ति नहीं हो सकती। भक्ति में अपने आराध्य से सम्बन्ध-अपनत्वपूर्वक ही होता है। नाथाय-श्रीराम हमारे अपने स्वामी हैं, यह भाव इस मन्त्र में मुख्य है।

त्रिपुरारि

उद्धत सुत तेरा है काम। तू भी तो नटखट है श्याम!

तू न रोक, तो भी क्यों हारूँ, बता, अभी त्रिपुरारि पुकारूँ?

अपने कन्हाई को उलाहना देने लगा था और तभी भीतर जैसे किसी ने गीता के श्लोक दुहरा दिये—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

—भगवद्गीता अ. 3, श्लोक सं. 40 से 43

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के अधिष्ठान कहे जाते हैं। इन इन्द्रियों

मन तथा बुद्धि के द्वारा यह देहधारी के ज्ञान को ढककर उसे अत्यन्त मोह में डाल देता है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के अधिष्ठान कहे जाते हैं अर्थात् वस्तुतः अधिष्ठान हैं नहीं। क्योंकि काम तो वासुदेवांश है। वह शारदेन्दीवर श्याम प्रद्युम्न है। वह अपने शुद्ध रूप में तो प्रेम है। उसकी आराधना होती है।

यह काम 'देहिनाम्' देहाभिमान—शरीरासक्त का काम है जो उसकी इन्द्रियों में, मन में, बुद्धि में बैठकर उसे विमोहित करता है। देहासक्ति ने काम को विकृत बनाया है, यह स्पष्ट बात पहिले श्रीकृष्ण ने कह दी।

अब जब देहासक्ति है—देह में ममता है तो—इस ममता के कारण पहले इन्द्रियों का (बलपूर्वक) संयम करो। इस संयम के द्वारा ज्ञान-विज्ञान के नाशक इस पापी काम को दूर फेंक दो।

यह दूसरा श्लोक कहता है कि काम—विकृत काम पाप है—यह चित्त की पाप में लगावेगा। मन में आया भी तो इन्द्रियों को रोक दो। इसे सार्थक मत होने दो। दूर फेंक दो इसको।

इतने से गीता-गायक को सन्तोष नहीं है। वे पुरुष का प्रबलतम-सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ चाहते हैं। वे काम का—विकृत काम का समूलोन्मूलन चाहते हैं।

इन्द्रियों को पर कहा जाता है। इन्द्रियों से परे मन है। मन से परे बुद्धि है। जो बुद्धि से परे है, वही है—वही तुम हो।

इन्द्रियों को पर कहा जाता है—किनसे? विषयों से, काम से। कहा जाता है—वस्तुतः विषय कुछ हैं नहीं। नेत्र से भिन्न रूप केवल प्रतीति ही तो है। रूप की कामना नेत्र में है या नेत्र कामना से परे हैं? नेत्र तो सुन्दर, असुन्दर दोनों को देखते हैं। उनमें कहाँ काम है? यही अवस्था सब इन्द्रियों की है।

इन्द्रियों में काम नहीं है तो मन में है? इन्द्रियों से मन परे हैं; किन्तु मन ही तो सब कुछ नहीं है। मन से परे बुद्धि है। काम की—वासना की पहुँच यहीं तक है। आप तो बुद्धि से परे हैं।

इस प्रकार अपने को बुद्धि से परे जानकर, अपने आपसे अपने आपको स्थिर करके, इस कामरूपी दुरासद शत्रु को मार डालो।

यहीं त्रिपुर-दहन स्मरण आता है। स्पष्ट कह दूँ कि त्रिपुर-दहन चरित सत्य

है। उसके इस सत्य—आधिभौतिक रूप का वर्णन मैं अपने 'शिव चरित' में कर चुका हूँ। लेकिन वह सत्य है, अतः उसका आध्यात्मिक रूप भी सत्य है।

आधिभौतिक घटना इतिहास का सत्य होती है। वह कभी हुई थी; किन्तु उसका आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप तो नित्य होता है। उससे हमको आपको सदा प्रयोजन रहता है।

दानवेन्द्र मय ने तीन नगर बनाए—एक सोने का, एक चाँदी का, एक लोहे का। अपने तीनों पुत्रों को दे दिया। ये नगर विश्व में ध्वन्स उपस्थित करने लगे। ये नष्ट तब हों जब सहस्र वर्ष में एक मुहूर्त को मिलें और तब इन पर सदाशिव आघात करें।

लोहे का नगर आप का यह स्थूल देह—इसमें स्थित इन्द्रियाँ नहीं है? इसमें रहते कौन हैं—दैत्य दानव। काम की विविध वृत्तियाँ और इस देह की आसक्ति, देह का अभिमान जगत में दुःख हो तो फैलाता है।

चाँदी का नगर—राजस शरीर आपका सूक्ष्म शरीर। यह शरीर मन प्रधान—इसका संसार स्वप्न का। इसमें भी वही काम और उसका परिवार।

स्वर्ण का—सुनहला, चमत्कार, सात्विक नगर आपका कारण देह—बौद्धिक स्थान अर्थात् केवल अविद्या।

यह सब मय का—माया का निर्माण है। मय के पुत्र अज्ञानके त्रिविध रूपों को ये नगर प्राप्त हैं। स्थूल का अभिमानी, सूक्ष्म का अभिमानी और कारण का अभिमानी बना एक ही चेतन है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति के अभिमानी तीन लगते हैं; किन्तु तीन हैं क्या?

यह त्रिपुर अजेय है। एक-एक को नष्ट करने के प्रयत्न से यह नष्ट होने वाला नहीं है। ये तीनों पुर जब एक हों—जब यह ज्ञात हो कि तीनों अवस्थाएँ एक ही अविद्या की हैं और उनमें स्थित चेतन एक है।

इतना ही पर्याप्त नहीं है। केवल 'त्वं' पदार्थ का शोधन, केवल अपनी तटस्थता का ज्ञान इन पुरों को—अविद्या और उसके विलास को नष्ट नहीं करेगा। उस पर शिव को आघात करना चाहिए। अद्वय परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार से—'तत्' पदार्थ के शोधन से भी नहीं, तत्-त्वं के एकत्व बोध से अविद्या नाश होना चाहिए। परिच्छिन्नत्व का भ्रम—आवरण मिटना चाहिए।

तब त्रिपुर नाश हुआ। तब काम मारा गया।

'यो बुद्धेः परतस्तु सः।'

जो बुद्धि से परे है, वह कौन? 'सः' वही—जिसे श्रुति कहती है—'रसो वै सः' वह आनन्दस्वरूप।

'शिवोऽहं', 'सोऽहं', 'अहं ब्रह्मास्मि' का यह ज्ञानमार्ग, यह आध्यात्मिक तथ्य यदि ग्रहण नहीं होता तो भी निराश होने की कोई बात नहीं है। केवल आध्यात्मिक सत्य अथवा आधिभौतिक सत्य ही नहीं हैं, दोनों के मध्य में एक आधिदैविक सत्य भी है। वह सर्व सुगम है। सबका ही सहारा है।

यह जगत प्रत्यक्ष है या नहीं? तब इस जगत का कोई सञ्चालक होगा? वह सर्व सञ्चालक सर्वेश्वर किसी की बुद्धि में आवेगा?

'यो बुद्धेः परतस्तु सः'—जो बुद्धि से परे है वही—वही सर्वेश्वर परमात्मा।

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा।'

वह बुद्धि से परे है—ऐसा जानकर—उसमें आस्था करके, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उसे मानकर, ठीक ऐसे मानकर जैसे घड़े को देखकर मान लेते हैं कि उसका निर्माण कुम्हार होगा। उसी के सहारे इस कामरूप दुरासद शत्रु को मार दो।

उस सर्वेश्वर, दयामय, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ को मान लेने पर कुछ कामना करने की आवश्यकता रह जाती है?

काम तो है ही इसलिए कि हम उस सर्वेश्वर त्रिपुरारि को जानते नहीं। उसकी सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वसमर्थता पर आस्था नहीं करते।

उस पर आस्था करके पूछिये—काम से—'पुकारूँ उस मदनान्तक त्रिपुरारि को?'

उसे पुकारने की आवश्यकता नहीं रहेगी। उसका स्मरण जहाँ हृदय में आता है, वहाँ काम टिक नहीं सकता। इसीसे मैं अपने कन्हाई से कहता हूँ—

'तू न रोक, तो भी क्यों हारूँ।

बता अभी, त्रिपुरारि पुकारूँ?'

बेटा उत्पाती है और बाप नटखट; किन्तु भोले बाबा तो कहीं गये नहीं हैं।

डरता वह है जो बुरा करता है

विशाल जल-पोत समुद्र की छाती पर लहरों को चीरता हुआ वेग से चला जा रहा था। यान का चालक युवक था, अभी दो दिन पहले ही उसका विवाह हुआ था। युवती-पत्नी के साथ बैठकर बातें करने का भी उसे अवकाश नहीं मिला। यान चल रहा था पत्नी ने कहा—चलिये छत पर चलकर सुन्दर दृश्य का आनन्द लें।

पति ने कहा—सैंकड़ों नर-नारियों की रक्षा का भार भगवान ने मुझ पर छोड़ा है, कर्त्तव्य पालन के समय आमोद-प्रमोद का क्या काम।

पत्नी ने कहा—आप बड़े रूखे हैं।

पति ने कहा—मेरी सरसता इस समय यान आगे ले जाने के लिए सिन्धु के अथाह जल में रास्ता बना रही।

पत्नी पति के पास बैठ गई। पति कर्त्तव्य पालन में तल्लीन था। कुछ ही देर बाद समुद्र में भारी तूफान उठा। यात्री घबरा गये चालक से तरह-तरह के प्रश्न करने लगे।

चालक ने कहा आप सब शांति से बैठें। घबराने की कोई बात नहीं है। जीवन में न जाने कितने तूफान उठते और बैठ जाते हैं। मन को न बैठने दो।

पत्नी ने कहा—‘आप बड़े अजीब हैं कोई उपाय नहीं सोचते।’

पति ने कहा—‘कर्त्तव्य पालन से श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं है। घबराकर कर्म छोड़ने वाले डूब जाते हैं।’

पत्नी ने अपने स्नेहपूर्ण बड़े-बड़े नेत्र पति के मुख पर जमा दिये।

पति ने अपनी कटार निकाली और पत्नी की छाती पर तानी। पत्नी ने हँसकर कहा—‘आप यह क्या खेल करते हैं।’

पति बोला—‘तुम्हें कटार का डर नहीं है?’

पत्नी ने कहा—‘कटार आपके हाथ में है तब तक मुझे डर क्यों हो?’

पति ने कहा—‘प्रिये तूफान रूपी कटार भगवान के हाथ में है। भगवान मेरे परम प्रिय हैं फिर मुझे डर क्यों हो?’

डरता वह है जो बुरा करता है और भला चाहता है।

कर्त्तव्य परायण, परमेश्वर पर दृढ़ विश्वास रखकर नित्य निर्भय रहता है।

नारी का धर्म और परमार्थ

आजकल धर्म और परमार्थ प्रायः पर्यायवाची मान लिया जाता है; किन्तु तथ्य ऐसा नहीं है। जब गीता में भगवान् कहते हैं—

‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।’

तब धर्म को समझना आवश्यक है। शास्त्रों ने चार पुरुषार्थ माने हैं—

1. अर्थ, 2. धर्म, 3. काम और 4. मोक्ष। इनमें मोक्ष स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। जैसे अर्थ का उपार्जन और काम का सेवन धर्म से अविरोधी होना चाहिए उसी प्रकार धर्म को भी मोक्ष का अविरोधी होना चाहिए। जैसे धर्म का विरोधी अर्थ एवं काम त्याज्य है, वैसे ही मोक्ष का विरोधी धर्म भी त्याज्य है।

न्यायपूर्वक उपार्जित धन से उपभोग, दान, यज्ञ एवं अपनी पत्नी का विहित समय में सेवन यह धर्म से अविरोधी अर्थ और काम है। जो ऐसा करता है, वह पामर नहीं है। वह विषयी भी हो सकता है, धर्मात्मा भी। यदि न्यायोपार्जित धन वह अपने काम में लेता है तो वह विषयी है। यदि उस धन से दान, तीर्थाटन, सेवा, यज्ञ करता है तो धर्मात्मा है। लेकिन साधक अर्थात् मोक्षमार्गी तो वह है जो धर्म के लिए भी संग्रह-परिग्रह नहीं करता। वह यदि उपार्जन करता भी है तो अत्यल्प—प्रयोजन मात्र। वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

यह लिखने की आवश्यकता इसलिए हुई जिससे धर्म और मोक्ष को स्पष्ट पृथक समझा जा सके। जैसे सत्य, अहिंसा, अस्तेय सबके सामान्य धर्म हैं, वैसे ही नारी के कुछ विशेष धर्म हैं—पतिव्रत्य, पुत्र का लालन-पालन, पति के परिवार की सेवा। ये नारी के उसी प्रकार धर्म हैं जैसे पुरुष का धर्म पत्नी की रक्षा एवं पालन तथा संतान का पालन-शिक्षण, माता-पिता की सेवा आदि है। इन धर्मों में किसी एक को ही बहुत महत्ता दे देना न उपयुक्त है, न समझदारी।

धर्म व्यक्ति का, व्यक्ति के लिए, व्यक्ति की शक्ति-स्थिति एवं योग्यता के अनुसार होता है। धर्म का फल पुण्य है। पुण्य का फल स्वर्ग है। निष्काम भाव से धर्म का पालन करने पर वह अन्तःकरण की शुद्धि का कारण होकर मोक्ष का साधन बनता है।

धर्म निरपवाद नहीं होता। एक ही धर्म एक व्यक्ति के लिए एक अवस्था में

धर्म है तो दूसरे के लिए अधर्म हो सकता है और दूसरी अवस्था में उसी व्यक्ति के लिए भी अधर्म हो सकता है। जैसे पत्नी का पालन-रक्षण गृहस्थ पुरुष का धर्म है; किन्तु संन्यासी हो जाने पर उसी के लिए वह अधर्म हो जाता है।

पतिव्रत्य धर्म है। मुझसे पूछा जाता है—‘वह मोक्ष का साधन है या नहीं?’ मेरा उत्तर है कि है; किन्तु प्रत्येक धर्म निष्ठापूर्वक अपनाने पर मोक्ष का साधन होता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, माता-पिता या गुरु की भक्ति भी वैसे ही मोक्ष के साधन हैं, जैसे पतिव्रत। केवल पतिव्रत पर ही बल, पुरुष अपने स्वार्थ के कारण ही देते हैं।

धर्म एवं मोक्ष के साधन में एक मौलिक अन्तर है। धर्म होता है अधिकार के अनुसार और साधन होता है निष्ठा के अनुसार। आपकी निष्ठा श्रीराम में हो या श्रीकृष्ण में, धर्म कहता है कि द्विजाति को नित्य सन्ध्या और गायत्री-जप करना ही होगा। ऐसा न करने पर अधर्म होगा।

इसी प्रकार नारी शरीर प्राप्त हुआ है तो पतिव्रत धर्म है। उसका पालन न करना अधर्म होगा। यह बात निर्विवाद सत्य है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि जो धर्म है, उसी में निष्ठा भी हो और उसी को मोक्ष का साधन बनाया जाय।

पुरुष द्विज है तो नित्य सन्ध्या और एक माला गायत्री जप करके धर्म-निर्वाह करता हुआ श्रीराम-कृष्ण-शिव आदि किसी इष्ट में निष्ठा रखकर उनका ध्यान, उनके मन्त्र का जप कर सकता है। ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में गुरु की सेवा करता हुआ भगवान् के किसी रूप की आराधना कर सकता है, धर्मात्मा पुत्र माता-पिता की सेवा करता हुआ भी भक्ति, ज्ञान अथवा योग मार्ग अपना सकता है।

इसी प्रकार नारी भी पति-सेवा करते हुए अपने उद्धार के लिए कोई भी आराधना कर सकती है। जैसे द्विज के लिए गायत्री को छोड़कर अन्य मन्त्र के जप का निषेध नहीं है, जैसे ब्रह्मचारी के लिए गुरु को और पुत्र के लिए पिता को ही इष्ट बना लेना अनिवार्य नहीं है, वैसे ही यह अनिवार्य नहीं है कि स्त्री पति को ही इष्ट भगवान या गुरु भी बना ले। उलटे ऐसा कर लेना बहुत कठिन होता है। उतना ही कठिन होता है जितना पुत्र के लिए पिता को ही इष्ट बना लेना।

इसका अर्थ है अभीष्ट, और अभीष्ट ऊपर से थोपा नहीं जा सकता।

हमारी रुचि, हमारी प्रियता के अनुसार हमारा अभीष्ट होता है। जो इसी जीवन में अत्यन्त प्रिय नहीं है, जिसके साथ कर्तव्य-बुद्धि के कारण निर्वाह करना है, वह जन्म-जन्म के लिए इष्ट-शाश्वत अभीष्ट कैसे बन सकता है। जो अभीष्ट नहीं, वह इष्ट बन नहीं सकता।

कठिनाई तब आती है जब धर्म—सामाजिक कर्तव्य हमारे मोक्ष का—परमार्थ के साधन का विरोधी बनता है। जैसे किसी भक्त के हाथ पर एकादशी के दिन कोई अन्न से बना भगवत्प्रसाद रख दे। ऐसी दशा में एकादशी व्रत का धर्म गौण हो जाता है। गोपियों की बात न भी करें तो मीरा के सामने यह संकट आया था। बहुतों के सामने आता है—आ सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ऐसे अवसर के लिए कहा है—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।

तजिये ताहि कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही ॥

नाते नेह राम ते मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ।

अंजन कहा आँख जौं फूटै, बहुतक कहाँ कहाँ लौं ॥

नारी और अध्यात्म

नारी के लिये किसी आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता है या नहीं?

यह प्रश्न इसलिये उठा है, क्योंकि बहुत से लोगों की मान्यता है कि नारी के लिये पति भक्ति ही पर्याप्त है। इसी से उसका लोक-परलोक पूरा बन जाता है। बहुत व्याख्या न करके हम सीधे सादे ढँग से विचार करें तो इन प्रश्नों पर ध्यान जाता है।

1—जीव का क्या कोई लिंग है? जीव स्त्री है या पुरुष?

—स्पष्ट है कि जीव न स्त्री है, न पुरुष। स्त्री या पुरुष शरीर है।

2—आध्यात्मिक कल्याण किसका होता है—स्थूल शरीर का या जीव का?

—स्थूल शरीर तो यहीं जला दिया जाता है, गाड़ दिया जाता है अथवा जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। आध्यात्मिक—पारलौकिक कल्याण होना है जीव का।

3—नारी पिछले जन्म में पुरुष नहीं होगी, क्या यह निश्चय है? ऐसे ही

पुरुष के सम्बन्ध में निश्चय है?

—ऐसा कोई निश्चय नहीं है। आज जो नारी है, पिछले जन्म में पुरुष हो सकती है। यही बात पुरुष के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

4-‘अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।’

गीता के इस नियम को देखते, ‘अनेक जन्मों तक एक ही साधन चलेगा तब पूर्णता प्राप्त होगी। अथवा जन्म-जन्म में साधन बदलते रहेंगे तो भी पूर्णता प्राप्त हो जायगी?’

—जन्म-जन्म में साधन बदलते रहेंगे तो पूर्णता प्राप्त नहीं होगी। एक ही साधन चलता रहेगा तब पूर्णता प्राप्त होगी। एक ही साधन चलता रहता है, इसका आश्वासन गीता में है—

‘पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः।’

5—एक प्राणी पूर्वजन्म में पुरुष था और उस समय योगाभ्यास में लगा था। दुर्भाग्य से मन में वासना जागी। मरते समय मन स्त्री में रह गया। इस जन्म में उसे स्त्री देह मिला और विवाह हो गया। अब वह पति-भक्ति में लगे या योगाभ्यास में? उचित क्या है? साथ ही पूर्वाभ्यास उसे किधर जाने को विवश करेगा?

—स्पष्ट है कि पूर्वाभ्यास उसे योगाभ्यास में लगने को विवश करेगा, यही उसके लिये मार्ग है।

6—जैसे पतिभक्ति से नारी का कल्याण निश्चित है, वैसे ही पितृभक्ति या गुरुभक्ति से पुरुष का कल्याण निश्चित है या नहीं?

—पितृभक्ति या गुरुभक्ति से पुरुष का कल्याण सुनिश्चित है।

7—जैसे नारी से कहा जाता है कि वह केवल पतिभक्ति करे, क्या आप पुरुषों से भी कहेंगे कि वे अन्य साधन न करें, केवल पितृभक्ति करें। इस प्रकार क्या योग, ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग को आप स्वयं बतला देंगे?

—आप ऐसा साहस नहीं करेंगे। ऐसा करना मूर्खता होगी। साधन होता है अधिकार के अनुसार। जो विरक्त है, स्वस्थ है, श्रमी है—वह योगाभ्यास का अधिकारी है। जो भावुक है, वह भक्ति का अधिकारी है। जिसकी बुद्धि प्रबल है वह ज्ञान का अधिकारी है। जिसकी कर्म में प्रवृत्ति है, वह कर्मयोग

का अधिकारी है। एक ही साधन सबके लिये सम्भव होता तो शास्त्रों में इतने साधनों का वर्णन व्यर्थ न किया जाता।

8—जैसे पुरुष भिन्न रुचि हैं, नारियाँ क्या भिन्न रुचि नहीं हैं? उनको अपने अधिकार के अनुसार साधन क्यों नहीं करना चाहिये? उनमें अधिकार भेद है या नहीं?

—नारियों में भी पुरुष के समान ही रुचि-वैचित्र्य है। उनको भी अपने अधिकार के अनुसार ही साधन करना चाहिये। जैसे सब पुरुषों से पितृभक्ति की बात कहना भी मूर्खता है।

9—पतिभक्ति पर इतना बल शास्त्रों में क्यों है?

—सामाजिक सदाचार बनाये रखने के लिये। दूसरी बात यह कि आशा की गई थी कि पुरुष साधन भजन करके मुक्त होगा ही। अतः उसमें आसक्त नारी अनायास मुक्त हो जायगी। लेकिन जब पुरुष पापरत है, नरक के पथ पर दौड़ रहा है, उसमें आसक्ति रखकर उसकी भक्ति करके नारी को जो ‘पतिलोक’ मिलेगा—क्या वह अभीष्ट है?

10—तब नारी का आध्यात्मिक साधन क्या है?

—जैसे परलोक की चिन्ता पुरुष को करनी चाहिये, नारी को भी करनी चाहिये। जो साधन पुरुष के लिये है, नारी के लिये भी है। नारी को भी पुरुष के समान ही किसी उचित मार्गदर्शक की आवश्यकता है जो उसे अधिकार के अनुरूप साधन निर्देश करे।

माधव! तुमने मारा मधु को-पर मेरे मन का मधु जीता।
विषयों की कण कण मिठास पर-भटक रहा मन-जीवन बीता ॥
कैटभारि! कैटभ भी जब तब-फेरे कर जाता है मन में।
रोष-द्वेष की ज्वाला जगती, बुद्धि न रह जाती है तन में ॥
शेषनाग की शीतल शैया, पद्मा पदचार्या में लीना।
पहुँच सकेगी तुम तक मेरी-व्यथा-आतुरा, मलिना-दीना?
ओ करुणा-वरुणालय जागो! निद्रा त्यागो! विरद बचा लो!
नारायण! नर के अन्तर में-ये मधु-कैटभ, इन्हें सम्हालो!!

नारी और साधन

नारी को भी अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए वे सब साधन करने चाहिये जो पुरुष के लिए कहे गये हैं अथवा पुरुष और नारी के साधनों में कुछ अन्तर होना चाहिये ?

यह प्रश्न विवेकपूर्ण है और इस पर भली प्रकार ध्यान दिया जाना चाहिये इसलिए भी ध्यान देना चाहिये, क्योंकि सभी क्षेत्रों में नारी के समानाधिकार की मांग आज समझदारी की सीमा का उलंघन कर चुकी है।

नारी और पुरुष के स्थूल शरीर में जो भेद हैं, वह स्पष्ट है। इसका परिणाम है कि गर्भ भार-वहन नारी को ही करने की व्यवस्था प्रकृति ने की है। शिशु को दूध पिलाने और उसका पालन करने का दायित्व भी नारी पर है।

नारी-शरीर की रचना ऐसी है कि आततायी उसके साथ बलात्कार कर सकते हैं। पुरुष के साथ यह बात सम्भव नहीं है। इसका फलितार्थ यह है कि पुरुष अवधूत दिगम्बर होकर घूम सकता है। वह एकांकी चाहे जहाँ निर्जन में भी रह सकता है, लेकिन नारी ऐसा नहीं कर सकती। उसे शरीर ढकने को वस्त्र और रहने को सुरक्षित स्थान अवश्य चाहिये।

अब जो साधन सर्वथा एकान्त में रहकर होने वाले हैं वन में गिरि गुफा में वे नारी के लिए नहीं हैं, यह बात स्पष्ट हो गई। यह भी स्पष्ट हो गया कि अवधूतपने की ओर ले जाने वाले साधन भी उसके लिए नहीं हैं। उसके शारीरिक त्याग, वैराग्य की सीमा बनी रहनी चाहिये।

मैं अपवाद की बात नहीं करता पुरुषों में नारी स्वभाव के लोग पाये जाते हैं और नारियों में भी पुरुष स्वभाव होता है। ऐसों को अपवाद मान लें तो पुरुष और नारी के जैसे स्थूल शरीर के गठन में मौलिक अन्तर है, वैसे ही दोनों के सूक्ष्म शरीर अर्थात् अन्तःकरण के गठन में भी मौलिक अन्तर है। पुरुष आत्मकेन्द्रित, रुक्ष स्वभाव तथा बुद्धि को प्रधानता देने वाला होता है। प्रकृति ने शिशु पालन का दायित्व नारी पर दिया है, अतः उसके स्वभाव में स्नेह, स्वजन सेवा तथा भावना को प्रधानता देने वाली विशेषता है। बुद्धि, नारी में पुरुष से कम नहीं होती, किन्तु वह बुद्धि की अपेक्षा भावना को महत्त्व देती है।

इन सब बातों पर ध्यान दें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि नारी के आध्यात्मिक साधन पुरुष की अपेक्षा, किंचित भिन्न होने चाहिए अब इस भेद पर विचार करें।

1. भक्ति में विशेषतः मधुर भाव नारी के लिए जितना उपयुक्त है, पुरुष के लिए उतना उपयुक्त नहीं है। पुरुष अपनी पत्नी में सन्तानोत्पादन भी करता रहे और अपने में कान्ताभाव, सुखभाव भी रखे, यह केवल पाखण्ड है। यह भाव पुरुष में तभी आ सकता है जब देहाभिमान सर्वथा गलित हो जाय। जबकि नारी के लिए इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

2. वात्सल्य एवं दास्यभाव का परिपाक स्त्री-पुरुष दोनों में होता है, किन्तु नारी को इनमें अपेक्षाकृत सुगमता होती है।

3. सख्य-भाव का सम्पूर्ण विकास पुरुष में सहज है। नारी में यह तभी परिपक्व होता है, जब उसका आराध्य रूप नारी रूप हो।

4. योग के अधिकांश साधन नारी के लिए कठिन होते हैं। वे असम्भव हैं, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ, किन्तु शारीरिक कठिन व्यायाम प्राणायाम तथा निरावलम्ब ध्यान नारी के लिए सहज सुगम नहीं है।

5. ज्ञान के मार्ग में पुरुष को नारी की अपेक्षा अधिक सुगमता होती है। पुरुष मार्ग में गुरु से निरपेक्ष रहकर भी आत्मचिन्तन कर सकता है, किन्तु नारी की प्रगति तभी होती है जब वह अपनी स्नेह करने की प्रकृति को गुरुभक्ति का एक अवलम्बन दे ले।

6. बहुत थोड़े में कहें तो नारी उत्सर्गरूपा है। अपने को उत्सर्ग कर देना उसका स्वभाव है। अतः जहाँ भी उत्सर्ग कर देने का अवसर है, उसे सफलता शीघ्र मिलेगी। पुरुष आत्मकेन्द्रित वृत्ति का है। अतः वह अपने को बड़ी कठिनाई से उत्सर्ग कर पाता है। इसलिए अपने 'अहं' पर केन्द्रित होकर किये जाने वाले साधन उसके लिए सुगम होते हैं।

7. एक सामान्य बात ही यहाँ कही गई है। साधन तो जीव को अनेक जन्मों की परम्परा से आता-मिलता है। अतः स्त्री हो या पुरुष जो साधन जिसके लिए सहज साध्य हैं, अपनी रुचि का है, वही उसके लिए सुगम है। केवल शारीरिक रचना कुछ स्थूल प्रतिबन्ध ही उपस्थित करती है। उन प्रतिबन्धों का मानना हितकर ही है, बाधक नहीं।

गीता का मुख्य बिन्दु

‘अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निरन चाक्रियः॥

जो कर्म-फल के आश्रित न होकर कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है। अग्नि को त्यागने वाला अथवा कर्म को त्यागने वाला संन्यासी या योगी नहीं।

केवल यह एक श्लोक गीता के दृष्टिकोण के मुख्य बिन्दु को समझा देने के लिए पर्याप्त है। प्रायः प्रत्येक अध्याय में इस भाव की कई-कई बार आवृत्ति की गयी है। ‘युद्धस्व’ की आज्ञा को अनेकों बार इसी दृष्टिकोण से दुहराया गया है। इस केन्द्र-बिन्दु को समझ लेने के उपरान्त अर्जुन स्वीकार किया है, ‘करिष्ये वचनं तव’ मैं आपके वचनों का पालन करूँगा और वह तदनुसार युद्ध के घोर हिंसामय कर्म में लग भी गया है।

इसी मुख्यबिन्दु के कारण गीता को ‘अनासक्ति योग’ ‘निष्काम कर्म-योग’ प्रभृति नाम बड़े-बड़े महापुरुषों ने दे डाले हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि गीता में भक्तियोग, हठयोग, सांख्ययोग, कर्मत्याग प्रभृति नहीं हैं। ये सब उसमें हैं और अपनी पूर्णता के साथ। ‘सर्वशास्त्रमयी गीता’ किसी भी साधन से रिक्त नहीं है। वह सबकी पूर्णता लिए है। इतना होते हुए भी सबकी खिचड़ी उसका लक्ष्य नहीं। उसका मुख्यबिन्दु उपरोक्त श्लोक के भावों पर रहा है। सब साधन इसका समर्थन करने और इसी में समन्वित करने के लिए लाये गये हैं।

कर्म के शास्त्रों ने तीन भेद माने हैं—निषिद्ध, काम्य और विहित। निषिद्ध कर्मों के करने का तो प्रश्न उठता ही नहीं। काम्य कर्म वह है जो किसी कामना से किये जायें। सर्वप्रथम ‘अनाश्रितं कर्मफलं’ कर्म-फल के आश्रित न होकर, इस वाक्य द्वारा भगवान् ने काम्य कर्मों का भी सफाया कर दिया। अब केवल विहित कर्म बच गये। इनका त्याग केशव को अभीष्ट नहीं है।

विहित कर्म के लिए गीताकार ने ‘कार्य कर्म’ करणीय कर्म शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा क्यों? कारण यह है कि अवस्था-विशेष में निषिद्ध

कर्म भी विहित हो जाते हैं। जैसे चोरी निषिद्ध कर्म है, परन्तु प्राणरक्षा के लिए चाण्डाल के घर से कुत्ते का मांस महर्षि विश्वामित्र चुरा लाये और उसे निषिद्ध नहीं माना गया। शास्त्र जिन यज्ञादि कर्मों की गणना काम्य कर्मों में करता है, फलाशा छोड़कर उनको करने में गीताकार सहमत हैं। अतएव गीताकार को यह अभीष्ट है कि परिस्थिति के अनुसार जिस कर्म का करना कर्तव्य हो, उसे फलाशा छोड़कर अवश्य किया जावे। इसी उद्देश्य को सूचित करने के लिए ‘कार्य कर्म’ शब्द दिया गया है। विहित शब्द से इतनी स्पष्ट अर्थाभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी।

‘अनाश्रितं कर्मफलं’ कर्मफल का आश्रय न लिया जावे। इसका यह तात्पर्य कभी हो ही नहीं सकता कि ऐसे कर्म मत करो जिनको काम्य बतलाया गया है अथवा जो फल प्रकट करते हैं। केवल सन्ध्या प्रभृति विहित कर्म करो। कर्म यदि फल प्रकट करते हैं, तो उनसे भीत होने की कोई आवश्यकता नहीं। ‘सम दुःख सुखे स्वस्थः’ की शिक्षा देने वाली गीता व्यक्ति को कर्मफल से भयभीत बनाना नहीं चाहती। उसका तात्पर्य केवल इतने में है कि तुम कर्म के फल पर निर्भर होकर कर्म मत करो। फल हो या मत हो, तुमको इससे निरपेक्ष रहना चाहिए। कर्म करना तुम्हारा कर्तव्य है, यह समझकर कर्म करो। फिर उस कर्म का फल चाहे कुछ भी हो।

ऊपर की अर्धाली में निश्चित सिद्धांत का आदेश देकर नीचे की अर्धाली में उसके पालन-कर्ता की स्थिति बतलायी गयी है। ‘स संन्यासी’ वही संन्यासी है। ‘योगी व’ वही योगी भी है। स्थिति का यह स्पष्टीकरण बड़े जोरदार शब्दों में है। पूरा बल लगाकर उसे संन्यासी और योगी बताया जा रहा है।

‘न निरग्निरन चाक्रियः’ अथवा अग्नि, क्रिया का त्यागने वाला संन्यासी या योगी नहीं। क्यों?

‘नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतजैर्गुणैः॥

कोई भी जन्मधारी एक क्षण भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृति-जन्म गुणों के द्वारा उससे विवशतः कर्म होते ही हैं। ऐसी दशा में कर्मों का पूर्णतः त्याग हो नहीं सकता। हो केवल यही सकता है कि बलपूर्वक

इन्द्रियों को कर्म से रोके रखा जाय। मन को रोके रखना शक्य नहीं। मानसिक चिन्तनरूपी कर्म तो होते ही रहेंगे। इस दशा को गीताकार अभीष्ट नहीं मानते। वे कहते, हैं, 'यह तो मिथ्याचार है।'

‘सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।’

ज्ञानी भी अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टा करता ही है। ऐसी दशा में मन में संसार का समस्त प्रपञ्च भरे रहकर केवल शरीर से कर्म न करने का पाखण्ड क्यों किया जाए? शरीर से भी पूर्णतः कर्म-त्याग तो होता नहीं। भोजन, जलपान, शौचादि अनिवार्य कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता, फिर केवल थोड़े से कर्मों को त्यागने से क्या लाभ? यज्ञ, दान प्रभृति ने क्या बिगाड़ा है? ये तो पवित्र करते हैं।

‘यज्ञोदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्।’

यज्ञ, दान और तपस्या प्रभृति आत्मशुद्धिकारी तथा लोकोपकारी कर्म अवश्य करने चाहिये। गीता के मतानुसार फल की इच्छा छोड़कर सब कर्तव्य कर्म करणीय हैं। कर्तव्य-कर्मों के त्याग का अर्थ है कर्तव्य-भ्रष्ट होना। कोई भी अपने कर्तव्य से च्युत होकर योगी अथवा संन्यासी नहीं हो सकता।

स्मरण रखना चाहिये कि गीताकार योग और संन्यास में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। उनकी दृष्टि में दोनों एक समान अथवा एक ही हैं।

‘यं संन्यासमिति प्राहुयोगं तं विद्धि पाण्डव।’

‘अर्जुन! जिसे संन्यास कहा जाता है, उसी को योग समझो।’ ऐसा क्यों? कारण यह है कि संन्यास का अर्थ भगवान् कर्मों का न्यास नहीं मानते। वे स्पष्ट कहते हैं कि कोई एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्मेन्द्रियों से कर्मों का त्याग करके मन से उनका चिन्तन करना उन सर्वज्ञ की दृष्टि में पाखण्ड है। वे कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हुए भी मन से निरपेक्ष रहने वाले को विशेषता देते हैं। **‘असक्तः स विशिष्यते।’** अतएव संन्यास का अर्थ गीताकार कर्मत्याग न मानकर सङ्कल्प प्रभवान्कामान्त्यक्त्वा सर्वानशेषां सङ्कल्प-जन्य सम्पूर्ण कामों के त्याग को यह संन्यास की विशेषता मानते हैं। इस त्याग से भिन्न योग भी कुछ नहीं।

“नहि संन्यस्त सङ्कल्पः योगी भवतिकश्चन।”

बिना सङ्कल्पों का त्याग किये कोई योगी नहीं हो सकता। उन्होंने संन्यास और योग की परिभाषा की है—

“काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलस्त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

कामना-युक्त कर्मों के त्याग को (सारे कर्मों के त्याग को नहीं) विद्वान् संन्यास कहते हैं और समस्त कर्मों के फल-त्याग को बुद्धिमान त्याग बतलाते हैं। इस परिभाषा में कर्तव्य एवं विहित कर्मों के त्याग का कोई प्रश्न आता ही नहीं।

जिसने केवल अग्नि का (हवनादि कर्मों का) त्याग किया है, अथवा जिसने कर्ममात्र (भोजनादि आवश्यक कर्मों से अतिरिक्त कर्म) का त्याग किया है, वह संन्यासी अथवा योगी नहीं। बहुत सम्भव है कि वह अनजाने में मिथ्याचार का पोषण कर रहा हो। कर्म-फल से अनाश्रित होकर कर्तव्य कर्म करने वाला संन्यासी और योगी है। काम्य कर्म का त्याग करने के कारण वह संन्यासी और फलेच्छा को छोड़ देने के कारण योगी भी बतलाया गया है।

गीता का इसी निष्काम कर्मयोग के द्वारा; लोकसंग्रह मुख्य बिन्दु रहा है। स्वयं अपना उदाहरण देकर गीता वक्ता ने इसका प्रतिपादन किया है।

देहाध्यास कैसे छूटे?

एक अच्छे संत ने एक दिन सहज पूछ लिया कि देहाध्यास कैसे छूट सकता है? तो मैं परिहास में बोला—‘पैर में रस्सी बाँधकर उलटे बिजली के पंखे में लटकना चाहिए।’

वे हँस दिये। बात हँसने की ही है। ‘देहाध्यास क्या?’ इसे समझे बिना आजकल लोग देह की सुध न रहे, इसे देहाध्यास छूटना समझ लेते हैं। और तब गले में रस्सी बाँधकर लटकने, गोली मार लेने, विष खा लेने के अतिरिक्त उन्हें क्या उपाय बतलाया जाय। निद्रा में ऐसा देहाध्यास प्रतिदिन छूटता है। उससे जिसे सन्तोष नहीं है उसे क्लोरोफार्म सूँघकर तो सन्तोष होना नहीं है।

शरीर की सुध न रहने का नाम देहाध्यास छूटना हो तो वह पत्थर, लोहे आदि का छूटा हुआ ही है। आप वैसा बनना चाहते हैं इसका अर्थ है कि ईश्वर ने आपको मनुष्य बनाकर भूल की।

देहाध्यास क्या? अवश्य यह प्रश्न पहले किया जाना चाहिए और तब देहाध्यास छूटने की चिन्ता में पड़ना चाहिए।

देह की प्रतीति और देह से व्यवहार करने का नाम देहाध्यास हो तो वह जीवन में जागृति रहते नहीं छूटने वाला है। वह तो निद्रित, मूर्छित या मृत का ही छूटता है।

‘मैं देह हूँ’ ऐसी मान्यता केवल जड़वादियों की होती है, जो देह से भिन्न आत्मा नहीं मानते। जो पाप-पुण्य की, परलोक की चिन्ता करता है वह अपने को देह नहीं मानता। लेकिन देहाध्यास केवल परलोक अर्थात् देहान्त के पश्चात् भी अपनी सत्ता मानने मात्र से छूटता नहीं। अतः ‘मैं देह नहीं हूँ’ इतना जानने-मानने का नाम देहाध्यास की निवृत्ति नहीं है।

देह में और देह के नाम में आसक्ति का नाम देहाध्यास है। ‘मैं देह हूँ’ इस प्रकार की भ्रान्ति का नाम तो अभिनिवेश है। आस्तिक पुरुष यदि सच्चा आस्तिक है तो उसमें अभिनिवेश नहीं होता। धर्माचरण से, धर्म में दृढ़ आस्था होने से परलोक पर विश्वास होने से अभिनिवेश मिट जाता है? किन्तु देह एक नाम की आसक्ति तब भी बनी रहती है। जैसे घर, दुकान, मोटर, धन वस्त्रादि को कोई ‘मैं’ नहीं मानता; किन्तु उनमें आसक्ति रहती है और खूब दृढ़ रहती है।

देहाध्यास मिटने का अर्थ है परिच्छिन्नत्व का भ्रम मिटना। देहाध्यास निवृत्ति के स्थान पर देहासक्ति-निवृत्ति शब्द अधिक सुगम-सुबोध है। यह देह एवं नाम की आसक्ति कैसे मिटे यही साधक को मुख्य रूप से देखना है।

यह देहासक्ति कैसे मिटे? इसका उत्तर इतना ही है कि ज्ञान, भक्ति, योगादि सब साधन इसीलिए हैं। किसी साधन की पूर्णता प्राप्त किये बिना यह मिट नहीं सकती। अतः पूरी निष्ठा से, सम्पूर्ण लगन से, अपने साधन में लगे रहना चाहिए।

सतत स्मरण कैसे हो?

एक सज्जन कहते हैं—‘मेरे मुख से अखण्ड सीताराम नाम निकलता नहीं था, रहे, ऐसा उपाय कर दीजिये।’

मैंने उन्हें उत्तर दिया है—‘जो अखण्ड जप, अखण्ड स्मरण महाराज

दशरथ में, माता कौशल्या में, श्रीभरतलाल में, श्रीहनुमान जी में, श्रीराधा में नहीं था, वह आप में हो जाय—ऐसा कोई उपाय मुझे पता नहीं है।’

‘अव्यावृत्त भजनात्।’ – नारद भक्तिसूत्र

इस प्रकार शास्त्रों में अखण्ड भजन की, सतत स्मरण की बात है। सन्त भी कहते-लिखते हैं कि निरन्तर जप-चिन्तन होना चाहिए।

इस अव्यावृत्त, सतत, निरन्तर, अखण्ड का अर्थ क्या है, जैसे सामान्य अर्थ इनका प्रचलित है, यदि वही अर्थ है तो यह एक असम्भव बात है और ऐसी अवस्था किसी को कभी प्राप्त नहीं थी। ऊपर जो मैंने बहुत बड़ों के नाम लिये हैं, इसीलिए लिये हैं।

नियम यह है कि मन में एक काल में एक ही वृत्ति रहती है, किसी को क्षणभर भी निद्रा न आवे, यह हो सकता है, किन्तु वह स्वस्थ व्यक्ति नहीं होगा। जिसे भूख-प्यास लगता है, जिसे दूसरे से कुछ भी कहना है। जिसे संसार की कोई बात क्षणभर को भी स्मरण आती है, उससे उस काल में तो स्मरण, भजन छूटता ही है।

अब आप देखें कि बड़े-से-बड़े भक्त या महापुरुष अथवा भगवान् के अन्तरंग परिकर सोते, खाते-पीते और दूसरी भी कोई चर्चा, स्मृति करते हैं या नहीं? उन्हें अपने माता-पिता, पति, सेवक, सखा या सामान की कभी याद आती है?

ज्ञान तथा योग के ग्रन्थों में एक सप्तम भूमिका का वर्णन है। उसमें शरीर और संसार का क्षण भर को भी स्मरण नहीं होता; किन्तु ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर शरीर इक्कीस दिन में नष्ट हो जाता है। दूसरे इस अवस्था में मन निष्क्रिय होता है। स्मरण-भजन की क्रिया नहीं होती वहाँ।

सतत स्मरण शास्त्र एवं सन्तों की वाणी में आया है, इसका निर्देश है तो व्यर्थ नहीं है। इसको सम्भव होना चाहिए। यह सम्भव है, व्यावहारिक है; किन्तु इन शब्दों का अर्थ ठीक समझा नहीं गया। जहाँ तक क्रिया का प्रश्न है, कोई क्रिया सतत नहीं हो सकती। वह निद्रा में, भोजनादि के समय, दूसरे आवश्यक कामों में छूटेगी ही। यह बात शारीरिक एवं मानसिक दोनों क्रियाओं के सम्बन्ध में है। केवल भाव में सातत्य, नैरन्तरीयता, अखण्डता

चल सकती है।

आपको अपने नाम का सतत-निरन्तर स्मरण रहता है। आप कभी अपना नाम रटते नहीं, मन से उसे प्रायः भूले रहते हैं; किन्तु निद्रा में भी वह स्मरण रहता है। कोई आपका नाम लेकर नींद में आपको पुकारे तो भी आप जाग जाते हैं। यही सतत स्मरण है। रात-दिन अपने नाम को भूले रहना भूले रहना नहीं है।

माता को अपना इकलौता पुत्र, प्रेयसी को प्रियतम सतत स्मरण रहता है। यह बात समझाने में कठिनाई हो सकती है, पर अपने नाम की बात आप समझ सकते हैं। भगवन्नाम, भगवान् की स्मृति अपने नाम के समान सहज-जीवन का अंग बन जाय, यही सतत स्मरण है। यही अवस्था पाने का यत्न करना है। मन क्रियात्मक रूप में कोई स्मरण सतत बनाये तो रख सकता नहीं।

आज के ये सत्संग

‘कहाँ चले?’

‘सत्संग सुनने जा रहे हैं।’

‘वहाँ क्या होगा?’

‘एक छोकरी है। बड़ा सुन्दर गला है। खूब भजन गाती है।’

—छोकरी न सही, कोई गायक, कथावाचक, वक्ता, भजनीक सही।

पहली बात—सत्संग सुनने की वस्तु नहीं है, करने की वस्तु है।

दूसरी बात—आप वक्ता के रूप, स्वर, लच्छेदार भाषा, कथा-कहानी आदि से आकर्षित हैं अर्थात् मनोरंजन करने जाते हैं या सचमुच परमार्थ की, भगवान् की, सत्य-सदाचार की चर्चा सुनना आपको पसन्द है।

मैं आज की कथा-कीर्तन सत्संग में कैसी भीड़ होती है, इसी आलोचना नहीं कर रहा हूँ। भीड़ कब और क्यों अधिक होती है, यह आप भी जानते हैं।

तीसरी बात—आप सत्संग में जाकर करते क्या हैं? माताएँ स्वेटर बुनती हैं। कहीं-कहीं सब्जी भी अमनिया करती हैं। कुछ श्रोता सोते हैं। कुछ सजावट देखते हैं। कुछ वक्ता या इधर-उधर बैठे लोगों में ताक-झाँक करते हैं।

केवल सुनने—एकाग्र होकर सुनने कितने जाते हैं? जो सुनने जाते हैं, केवल वही श्रोता हैं।

चौथी और अन्तिम बात—सुनकर उठने पर क्या होता है?

लोग वक्ता की प्रशंसा करते हैं। उसके प्रवचन की—युक्ति-प्रयुक्ति की, स्वर-गान की प्रशंसा करते हैं या उसके दोषों का वर्णन करते हैं।

दोनों में कोई बात हो, सत्संग नहीं हुआ। सत्संग न निन्दा को प्रेरित करता और न स्तुति को। जो निन्दा या स्तुति को प्रेरित करे, वह सत्संग नहीं था। वह केवल सुनना मात्र था। भले वह उत्तम कथा या श्रेष्ठतम प्रवचन हो।

‘सत्संग आप किसे कहते हैं?’ आप पूछेंगे।

सत् का अर्थ है परमात्मा और संग का अर्थ आसक्ति। अतः सत्संग का अर्थ है परमात्मा में आसक्ति।

‘तब भक्ति, प्रेम और सत्संग में अन्तर क्या है?’

यह प्रश्न स्वाभाविक है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है—

‘तस्मिस्तज्जने भेदाभावान्।’

—नारद भक्ति सूत्र

भगवान और उनके भक्त में—महापुरुष में कोई भेद नहीं है।

अतः आनन्दस्वरूप इष्टदेव में प्रीति का नाम भक्ति है और सत्स्वरूप—प्रत्यक्ष विद्यमान महापुरुष में प्रीति का नाम सत्सङ्ग है।

सत्संग शब्द का मुख्य अर्थ यही है—महापुरुष में प्रेम। अब इसका दूसरा गौण अर्थ भी है। जैसे आम फल है; किन्तु आम का वृक्ष भी आम कहलाता है। जैसे भक्ति का अर्थ भगवान में प्रीति का होना है; किन्तु उस प्रीति को उत्पन्न करने के साधन श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, पाद-सेवन को भी भक्ति या साधन-भक्ति कहते हैं, वैसे ही महापुरुष में या भगवान् में जो आसक्ति उत्पन्न करें उस कथा, प्रवचन, भजन, कीर्तन को सुनने एवं वैसे ग्रन्थों को पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने का नाम भी सत्संग है।

ऐसे सत्संग की एक पहिचान है—वह निन्दा या प्रशंसा की प्रेरणा नहीं देता। वह श्रोता को मनन की प्रेरणा देता है। सोचने के लिए गम्भीर बनाता है और उसके हृदय में ‘सत्’ के प्रति आसक्ति जगाता है।

ऐसा सब सत्संग सबके लिए सत्संग नहीं होता। अपने इष्ट, अपनी निष्ठा, अपने साधन में जो रुचि उत्पन्न करे वह सत्संग होता है। एक भक्त के लिए वेदान्त के उच्चकोटि के महापुरुष का संग भी कुसंग बन सकता है। और एक वेदान्त के साधक के लिए किसी भगवत्प्राप्त भक्त संग भी कुसंग बन सकता है।

संग अर्थात् आसक्ति—सत् अर्थात् श्रद्धा और यह श्रद्धा तथा आसक्ति करती क्या है? भगवान ने गीता में बतलाया—‘यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

सच्चा सत्संग -

जो जिसमें श्रद्धा करता है, वह वही है। उसी से अब उसका तादात्म्य है और आगे भी उसी में उसको मिलना है।

आपकी श्रद्धा कहाँ है? इसका उत्तर देने से पहले सोचिये कि आपको बनना क्या है? किसे पाना चाहते हैं आप?

आपको निर्गुण, निराकार, अद्वय परमात्मबोध पाना है तो आपको अयोध्या-वृन्दावन के रसिक संतों में आसक्ति करने से, उनकी बातें सुनने से क्या मिलेगा? आपके लिए यह कुसंग है। आपके लिए सच्चा सत्संग है उपनिषद्, योगवासिष्ठ, पञ्चदशी, अद्वैतसिद्धि आदि का अध्ययन और किसी विरक्त, वेदान्तनिष्ठ संत में दृढ़ श्रद्धा।

आपको श्रीराम या श्रीकृष्ण के चरणों में प्रीति चाहिए तो आप ऊपर बतलाये ग्रन्थों तथा वैसे संत के पास जाकर कुसंग क्यों करते हैं? आपको किसी भगवद्भक्त सन्त में श्रद्धा करनी चाहिए और श्रीमद्भागवत, श्रीराम-चरितमानस जैसे ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।

उभय हरहिं भय-संभय खेदा॥

परम सत्य है यह; किन्तु यह महापुरुष की सिद्ध स्थिति है। साधन-पथ के पथिक के लिए तो सच्चा सत्संग चाहिए। अर्थात् आपने साधन के अनुकूल महापुरुष में उसकी दृढ़ श्रद्धा—सचमुच आसक्ति होनी चाहिए। यह है उसका सच्चा सत्संग।

जब सत्संग भी कुसंग होता है

शास्त्रों में और सन्त पुरुषों की वाणियों में सत्संग की बड़ी महिमा है—

‘तुलयामि लवेनापि न स्वर्ग नापुनर्भवम्।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ — भागवत

★ ★ ★

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुलाइक अंग।

तूल न ताही सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥

★ ★ ★

सत संगति मुद मंगल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला॥

★ ★ ★

मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहि जतन जहाँ जब पाई॥

सो जानत सत संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

इस प्रकार के वाक्य यदि संकलन किये जायँ तो बहुत बड़ा ग्रन्थ बनेगा। एक बात और कि कोई आचार्य सत्संग की महिमा के इन वाक्यों को अर्थवाद—अतिशयोक्ति नहीं कहते।

ये सब वाक्य सम्पूर्ण रूप से सत्य हैं। अनुभव कहता है कि जितना प्रभाव मनुष्य पर संग का पड़ता है, उतना और किसी बात का नहीं पड़ता। जीवन और मन में जो परिवर्तन वर्षों प्रयत्न, कड़े साधन से नहीं होता, वह संग के प्रभाव से अनायास और अत्यल्प काल में हो जाता है।

संग का प्रभाव इतना शीघ्र और गहरा पड़ता है, इसीलिए सत्संग की जितनी महिमा है, कुसंग की उससे कम निन्दा नहीं है।

‘को न कुसंगति पाइ नसाई।’

★ ★ ★

‘असत्सङ्ग सर्वथैव त्याज्यः।’ — नारद भक्तिसूत्र

ऐसी अवस्था में सत्संग क्या और कुसङ्ग क्या, यह समझना आवश्यक है। क्योंकि लोक सामान्य जिसे सत्संग कहते हैं, वह सदा सबके लिए सत्संग नहीं होता।

‘सत्’ यह परमात्मा का नाम है। जो निर्विशेष, सर्वव्यापक, सर्व-स्वरूप, अप्रमेय सत्ता है, उसका नाम सत् हैं उस अद्वितीय सत्ता में द्वैत का लेश नहीं। अतएव उसमें ‘संग’ शब्द की कोई सार्थकता नहीं है।

जैसे वृक्ष का नाम भी आम और फल का नाम भी आम है, वैसे ही उस मूल सत्ता का नाम तो ‘सत्’ है ही, उसके अनुभव, उसकी उपलब्धि के साधन तथा उस साधन को प्रदान कराने वाले को भी ‘सत्’ कहते हैं। अतः साधन या साधन प्रदान कराने वाले का संग सत्संग है।

सरल शब्दों में कहें तो ज्ञान, योग, भक्ति तथा इनके अंगभूत धर्म, सदाचार, वैराग्य आदि की चर्चा का नाम ही सत्संग है। जीव के पारलौकिक कल्याण के लिए—मन को अन्तर्मुख या धर्मोन्मुख करने के लिए जो भी वाक्य उच्चरित होता है, उसका नाम सत्संग है।

यहाँ तक बात बहुत सीधी है। जहाँ कहीं धर्मचर्चा, ज्ञान-वैराग्य या भगवान् के सम्बन्ध की चर्चा, कथा, उपदेश, कीर्तन, भजन होता है, उसे सत्संग कहा जाता है।

जहाँ पापचर्चा, परनिन्दा होती है, जहाँ मन को विषयोन्मुख करने-वाली कोई बात होती है, वह कुसंग है। यह बात भी सामान्य व्यक्ति समझता है।

बात इतनी सीधी नहीं है। बिना एक शब्द बोले या सुने सत्संग या कुसंग होता है और सर्वथा निर्दोष सत्संग भी कुसंग हो जा सकता है। यह बात समझे बिना न सत्संग का लाभ होता और न कुसंग से बचा जा सकता।

एक सन्त या उच्चकोटि के साधक के समीप जाकर आप बैठते हैं। वे महापुरुष एक शब्द नहीं बोलते; किन्तु उनका संयम, सादगी, उनका साधन आपको प्रभावित करता है। आपको प्रेरणा मिलती है संयम, सादगी तथा परमार्थोन्मुख होने की। यह सत्संग हो गया या नहीं? एक शराबी, अनाचारी को देखकर आपके मन में दुर्भाव जगता है तो कुसंग होने में कुछ शेष रहा? व्यक्ति को बात तो छोड़िये—एक नग्न चित्र देखना-रखना कुसंग है और भगवान् या सन्त के चित्र पर दृष्टि जाय तो वह भी सत्संग हो सकता है।

एक वेश्या सज-धजकर सूर तुलसी के पद गावे तो पद के शब्द या भाव किसी भावुक के लिए भले सत्संग बन जायँ, अन्यथा वेश्या का वह

सात्विक संगीत भी कुसंग ही बनेगा।

सचमुच के संत पुरुष का वास्तविक सत्संग भी कुसंग बन जाता है बात यही समझने की है और इसी के सम्बन्ध में साधक को सावधान रहना है।

आपको जाना है बम्बई। एक कोई स्वजन वहाँ आपकी प्रतीक्षा में है। आप यात्रा करते हैं। मध्य में एक सज्जन मिलते हैं। वे सुनाते हैं—‘इन गर्मियों में बम्बई में क्या रखा है। आजकल शिमला की यात्रा करनी चाहिए।’ वे शिमला के दृश्यों का, शीतलता का, सुख-सुविधा का भव्य वर्णन करते हैं। फलतः आपका बम्बई जाने का विचार बदल जाता है। आप शिमला चल पड़ते हैं। यह आपने कुसंग किया या सत्संग? मान लें कि आप दृढ़ संकल्प हैं। आप उनकी बात नहीं मानते और अपनी यात्रा जारी रखते हैं फिर भी उनकी बातें आपके लिए कोई सहायक हो सकती थीं? आपका समय व्यर्थ गया या नहीं?

इसी प्रकार कोई कितना भी बड़ा संत या साधक हो और उसका प्रवचन, उसकी कथा, उसका कीर्तन चाहे जितना प्रभावोत्पादक हो, वह सत्संग उसके—केवल उसके लिए है, जो उस मार्ग का चलने वाला हो। भक्ति या योग मार्ग में चलने वाले के लिए वेदान्त चिन्तन करने वाले के लिए भक्ति का सत्संग; सत्संग नहीं है। वह जितना प्रभावशाली होगा, निष्ठा में उतना अंतर लाने में समर्थ होगा। अतः भिन्न मार्ग से चलने वाले साधक के लिए वह उतना अधिक कुसंग होगा। आपकी निष्ठा दृढ़ है, तो भी तो उससे आपको कोई प्रेरणा नहीं मिलती। आपका उससे समय ही व्यर्थ जाता है।

बात कथा-प्रवचन तक ही नहीं, ग्रन्थों की भी है। भक्ति मार्ग का साधक योगवाशिष्ठ पढ़कर और ज्ञानमार्ग का साधक श्रीराधासुधानिधि पढ़कर क्या पावेगा? समय नष्ट करेगा अपना यदि परिपक्व निष्ठावान हुआ। यदि अपक्व निष्ठा हुई तो संशय, भ्रम उत्पन्न होंगे मन में। इन सद्ग्रन्थों का अध्ययन भी उसके लिए कुसंग बन जायगा।

सत्संग; आपकी निष्ठा के अनुरूप ग्रन्थ का स्वाध्याय सत्संग है। सब कथा-प्रवचन-भजन में जा बैठना, हर अच्छे ग्रन्थ को पढ़ना सत्संग या लाभकारी ही नहीं है।

सिद्ध पुरुष

एक बार मैं एक प्रसिद्ध चमत्कारी सिद्ध पुरुष के दर्शन करने गया। वे केवल एक गुदड़ी लपेटे सड़क के किनारे पड़े थे। अत्यन्त विरक्त और तितिक्षु थे।

मैंने कहा—‘कुछ स्वानुभव की बात कहिये।’

उठकर बैठ गये। नेत्रों में अश्रु आ गये। बोले—‘मैंने यह जन्म खो दिया। तुम सिद्धि के चक्कर में मत पड़ना।’

दो क्षण रुककर स्वयं बोले—‘जान-बूझकर सिद्धि का एक बार भी कोई प्रयोग कर ले तो अहङ्कार की ग्रन्थि इतनी दृढ़ हो जाती है कि तत्काल एक प्रारब्ध सिद्ध देह का बन जाता है। अब इस जीवन में उसे भले ज्ञान हो जाय या भगवद्दर्शन हो या समाधि लगे, इसी देह से वह मुक्त नहीं हो सकता। उसे एक कल्प अब सिद्धदेह में रहना ही पड़ेगा।’

कई बार मन में प्रश्न उठा था—‘देवर्षि नारद, सनकादिकुमार तो अवतार हैं; किन्तु वशिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरा आदि को क्यों देह धारण करना पड़ा। सिद्ध देह सही; किन्तु जब साधन करके मुक्त नहीं होना था, पूर्वजन्म का ही ज्ञान था तो प्रतिबन्ध क्या था कि उसी जन्म में ये मुक्त नहीं हुए। उसे महापुरुष की बात से मेरा समाधान हो गया। अब आपका समाधान हो गया या नहीं, आप जानें।’

एक दिन एक सज्जन ने मुझे प्रसाद दिया। मैंने पूछा—‘किसका प्रसाद है?’
वे बोले....‘श्री...का’।

वह उनके गुरुदेव का नाम था। मेरे मुख से निकल गया—‘ठीक, अविधि-पूर्वक अर्पित सही; किन्तु है भगवत्प्रसाद।’

येऽप्यन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

मेरे मन में गीता में कही श्रीकृष्ण की यह बात उस समय आयी थी; किन्तु पीछे मैंने सोचा—‘जो भूत-प्रेत, यक्ष-दानव हो गया हो, उसके नाम-से अर्पित को तो वह स्वीकार करता ही है। तब जो जीवन में सिद्ध रहा, वह सिद्ध लोक गया। उसके नाम जो कुछ चढ़ेगा, उसे वह स्वीकार कर सकता

है। वह प्रसाद सिद्ध का प्रसाद ही माना जाना चाहिये। भले उसे जीवन में तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका हो।’

वैसे उस प्रसाद को मैंने इसलिए अविधिपूर्वक अर्पित भगवत्प्रसाद कहा था, क्योंकि यह सीधे भगवान् को तो अर्पित नहीं किया गया था; और जिन महापुरुष को अर्पित किया गया था, उनका शरीर था नहीं। मेरी दृष्टि में और अर्पण करने वाले की दृष्टि में भी वे महापुरुष थे। अद्वैत ब्रह्म में उनकी निष्ठा थी। अब यदि वे मुक्त हो गये अर्थात् उनका ब्रह्मात्मैक्य सम्पन्न हो गया तो ब्रह्म निर्गुण-निष्क्रिय है। कोई सगुण व्यष्टिरूप आधिदैवत सत्ता उनकी रही नहीं, फिर पूजा-नैवेद्यादि कौन स्वीकार करेगा?

यह बात तो हुई सिद्ध के भौतिक-शरीर शान्त होने के पीछे की। जब तक उसका शरीर है, उसमें क्या विशेषता है?

सामान्य समाज के लिए कौतूहल बड़ी वस्तु है। मनोरञ्जन का सबसे बड़ा साधन कौतुक है और कौतुक से अज्ञानी वर्ग प्रलुब्ध भी होता है। उसे अपनी उन कामनाओं की पूर्ति में जिन्हें वह अपनी शक्ति से पूरा नहीं कर पाता, एक सहारा मिलता दीखता है।

इस प्रकार सिद्धियाँ लोगों को प्रलुब्ध करके या उन्हें कौतूहल में डालकर भौतिक सुख-समृद्धि, सेवा तथा सुयश पाने का साधन हैं।

साधक में कौतूहल नहीं होता। हो तो दुर्बलता है। वह मानता है कि भगवान् की सृष्टि में चमत्कारों की सीमा नहीं है। अथवा—**मायायां किं नु दुर्घटम्**। माया में क्या नहीं हो सकता।

साधननिष्ठ को न धन चाहिये, न सेवा और न सुयश। अतः सिद्धियों—का समस्त वैभव उसे प्रभावित नहीं करता।

जिनमें कुछ चमत्कार है, सिद्धियाँ हैं, वे जन-सामान्य के लिए चाहे जितने महत्त्वपूर्ण हों, चाहे जितने प्रख्यात हों, चाहे जितने चमत्कार वाले हो; किन्तु साधक को—अध्यात्म के साधक को उनसे दूर रहना चाहिये। उसे उनसे कोई सहायता नहीं मिलने वाली है। वह यदि उनके सुयश, वैभव या चमत्कार से प्रभावित होकर वहाँ जाता है तो अपने समय का एक बड़ा भाग नष्ट करके पछताकर उसे अन्त में लौटना पड़ेगा।

सचमुच महापुरुष

सचमुच महापुरुष वह है जिसे लोक-परलोक की कोई चिन्ता नहीं रह गयी है। यह सीधी बात आप अवश्य जानते समझते हैं।

अपने लिए उसे इस लोक में सम्पत्ति, सुविधा, सेवा, सुयश नहीं चाहिये। परलोक की चिन्ता से मुक्त नहीं हुआ तो महापुरुष ही काहे का।

अब यदि वह ज्ञाननिष्ठ है तो दूसरा उसकी दृष्टि में है ही नहीं। सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च स्वप्न के समान बाधित है। आपने स्वप्न में जो रोगी देखा था, जागने पर उसके लिए कभी दो रस्ती दवा जुटायी है? स्वप्न के समान जगत् जिसे दीखता है, वह जागने वाला किसके लिए सिद्धि जुटावे या प्रयोग करे?

यदि वह महापुरुष भक्तिनिष्ठ है तो सम्पूर्ण जगत् को भगवद्रूप देखता है। भगवान् न दयनीय होते, न दरिद्र, न दुःखी। उनकी सेवा उपलब्ध शक्ति एवं साधन से करना पर्याप्त है; क्योंकि सेवा उन्हें नहीं चाहिए। सेवा हम अपने लिए करते हैं।

अतः सचमुच जो महापुरुष है, उसकी कुछ विशेषताएँ हैं। पहले भी इस स्तम्भ में उन्हें लिख चुका हूँ—फिर उन्हें दुहरा लें—

1. किसी कारण से, कभी उसे किसी भी अलौकिक शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं लगती। वह सामान्य जीवन ही जीता है।
2. उसे न भय लगता, न चिन्ता होती और न शोक होता। अर्थात् कुछ नष्ट हो गया, कुछ नष्ट हो रहा है या कुछ नष्ट हो जायगा, इस पर उसकी दृष्टि नहीं जाती।
3. उसे जगत् में किसी से कुछ नहीं लेना है। अतः कभी दीन नहीं बनता।
4. उसे किसी में कोई दोष नहीं दीखते। अतः किसी की कभी निन्दा नहीं करता।
5. उसमें न लोभ होता, न मोह अर्थात् वह न वस्तु में राग करता, न व्यक्ति में।
6. उसमें क्रोध एवं काम आवें भी तो संस्कार छोड़कर नहीं जाते।
7. सबका वह सहज सुहृद् होता है।

भगवद्दर्शन का भ्रम

इस विषय पर इसी स्तम्भ में कई बार चर्चा की जा चुकी है; किन्तु साधक के लिए, सामान्य लोगों के लिए भी बात इतनी आवश्यक है कि फिर से और पूरी बात विचार कर लेना अच्छा है।

अनेक लोग कहते हैं—‘अमुक को भगवान् के दर्शन हुए हैं।’

आपको मिले होंगे, मुझे कई लोग मिले हैं जो कहते हैं—‘मुझे अमुक रूप में भगवान् के दर्शन हुए। उनसे अमुक बात हुई या अमुक प्रकार की लीला उनकी देखी।’

यह ठीक है कि ऐसे लोगों में ढोंगी, झूठ बोलने वालों की संख्या अधिक होती है; किन्तु उनमें सच बोलने वाले भी होते हैं। झूठ बोलने वालों की बात छोड़ियें। जो सच बोलते हैं, उनमें भी कभी कहीं कोई ही भगवद्दर्शन सचमुच पाये होता है। बाकी तो धोखे में ही रहते हैं।

भगवान् पहिले से देखे, जाने-पहिचाने तो हैं नहीं कि उनको देखते ही कोई पहचान लेगा। श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान् नारायण, शंकरजी, दुर्गाजी, हनुमानजी आदि के रूपों का वर्णन पढ़ा-सुना होता है। यह भी सुना होता है कि भगवान् के शरीर से बहुत प्रकाश निकलता है। अब ऐसा कुछ किसी को दीख गया तो उसने मान लिया कि उसे भगवद्दर्शन हो गया।

कई सिनेमा चित्रों में भगवान् का रूप दिखाया जाता है। नाटकों में भी कोई पात्र भगवान् के किसी रूप में सजकर मञ्च पर आता है। थोड़ी वैज्ञानिक सूझ-बूझ और सामान का उपयोग करके कोई अपने शरीर से प्रकाश निकलता दिखा सकता है।

मनुष्य ही वेश बना सकता है, सो बात नहीं है। मनुष्य को तो वेश बनाने के लिए सामान लगता है और उसका बनावटी वेश पकड़ में आ सकता है; किन्तु देवता, सिद्ध, भूत-प्रेत आदि इच्छा करते ही कोई भी रूप बना सकते हैं और उनका वह रूप पकड़ में नहीं आ सकता। उनके शरीर से प्रकाश खूब निकलता दीख सकता है।

एक रामायण में आया है कि कुम्भकर्ण ने सीता-हरण की बात सुनकर रावण से कहा—‘तुम सीता के पास राम का रूप रखकर क्यों नहीं गये?’

रावण ने कहा—‘श्रीराम का रूप रखने पर मन में पराई स्त्री की चाह ही नहीं रहती।’ लेकिन यह बात तो है ही कि रावण श्रीराम का रूप बना सकता था। युद्ध में उसने माया से अनेक राम श्रीराम के सामने ही प्रगट कर दिये थे।

बहुत तीव्र ध्यान हो तो अपना मन ही वह रूप बनाकर सामने आ जाता है। इसे आत्म-सम्मोहन (सेल्फ हिप्नाटिज्म) कहते हैं। सम्मोहन विद्या में समर्थ कोई दूसरा भी अपने संकल्प से किसी को कोई रूप दिखा सकता है कई प्रसिद्ध महात्मा कहे जाने वाले लोग इसी प्रकार भगवद्दर्शन कराके लोगों को प्रभावित करते हैं, यह मैं जानता हूँ।

इस प्रकार आत्म-सम्मोहन से, दूसरे के द्वारा सम्मोहित करके जो भगवद्दर्शन होगा या कराया जायगा वह भूत-प्रेत, सिद्ध या देवता के द्वारा छल से वेश बदलकर दर्शन देने के समान ही होगा। यह सब भगवद्दर्शन के भ्रम हैं। ऐसे भगवद्दर्शन से कोई लाभ नहीं होता।

भगवद्दर्शन

— भगवद्दर्शन स्वप्न में हो सकता है।

— भगवद्दर्शन ऐसी अवस्था में हो सकता है, जिसे न जाग्रत कहा जा सके, न स्वप्न कहा जा सके। अर्थात् आप जागते तो हों; किन्तु नेत्र बन्द हों और दर्शन इतना स्पष्ट हो जैसे खुले नेत्रों से होते हैं।

— भगवद्दर्शन जागते में खुले नेत्रों से हो सकते हैं।

— एक झलक देकर भगवान् अदृश्य हो जा सकते हैं।

— भगवान् इतनी देर खड़े रह सकते हैं कि आप उनकी स्तुति कर लें।

— भगवान् बोल सकते हैं। वरदान दे सकते हैं।

— भगवान् आपको छू सकते हैं और आप भगवान् को छू सकते हैं।

— आपको भगवान् की कोई सेवा करने का अवसर मिल सकता है या भगवान् आपके साथ कोई लीला कर सकते हैं।

— भगवान् आपको अपना स्वीकार कर ले सकते हैं।

— भगवान् आपके कोई हो जा सकते हैं।

— बार-बार भगवद्दर्शन हो और बार-बार भगवान् के साथ कोई लीला का सुअवसर मिले।

— जीवन में भगवान् के साथ साधारणीकरण हो जाय। अर्थात् भगवद्दर्शन या भगवल्लीलानुभूति जीवन में इतनी सामान्य बात हो जाय जैसे माता-पुत्र या भाई-भाई जीवन में सामान्य रूप से रहते हैं। इसमें विशेष आवेश-उल्लास या चौंकने-चौंकाने जैसी कोई बात न रहे।

भगवद्दर्शन की ये सब अवस्थायें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। सर्वश्रेष्ठ अन्तिम स्थिति है। इस अन्तिम स्थिति को छोड़कर और जितनी स्थितियाँ हैं वे भ्रम भी हो सकती हैं। सम्मोहन या भूत-प्रेत, देव-सिद्ध भी वैसा भ्रम बार-बार उत्पन्न करते रह सकते हैं।

भगवत्पार्षद भी भगवद्रूप होते हैं और उन्हें देखकर भी भगवद्दर्शन का भ्रम हो सकता है।

इसमें एक ही पहचान है—पक्की पहचान। यदि मनका ही भ्रम नहीं है, सचमुच भगवान् ने दर्शन दिया है तो भले दर्शन स्वप्न में हुआ हो और एक क्षण को हुआ हो, हृदय से अविद्या नष्ट हो जायेगी। संचित कर्म उसी क्षण भस्म हो जायँगे।

अविद्या के बच्चे हैं लोभ, मोह और शरीर की आसक्ति। ये भगवद्दर्शन के साथ नष्ट हो जायँगे। अतः जिसे भगवद्दर्शन सचमुच हुआ है, उसमें नाम को भी लोभ, मोह, देहासक्ति और भय नहीं रहेगा। क्योंकि ये दोष अन्तःकरण में स्थायी रहते हैं। ये नष्ट हुए तो हो गये।

काम-क्रोध, आवेश हैं। ये बाहरी कारणों से भी आते हैं। नशा, दवा से जैसे आते, वैसे ही ईश्वरेच्छा से भी आ सकते हैं। अतः शास्त्र-पुराणों में ऋषियों के जीवन में इनके आने की चर्चा है। लेकिन लोभ-मोह का आना शक्य नहीं। ये आवेश भी आते हैं तो अपना संस्कार नहीं छोड़ते।

सहज, सरल और सजग समाधि

समाधि, अर्थात् बुद्धि सम हो जिसकी, वह मनुष्य समाधिस्थ कहा जाता है। जिस बुद्धि में अहमता-ममता-विषमता तीनों नहीं हैं, किंतु समता है, वह मनुष्य चलते-फिरते हुए भी समाधिस्थ है। कोई पूछेगा, समाधि में होता क्या है? योग की समाधि में वृत्तियों का निरोध किया जाता है, जो भी वृत्ति खड़ी होती है, उसे निरोध करना या काट देना योग है और भक्त की समाधि यह होती है, कि वह सर्वत्र भगवान् के विराट रूप को देखता है, भगवान् उसका सखा है, प्रिय है, वह उसी में

प्रियजन भाव से रमता रहता है, उसी को नहलाना, भोग लगवाना और उसी का स्मरण, यह भक्त की समाधि है और वेदान्त की समाधि यह है कि अपने आपको विषयों-पदार्थों-व्यक्तियों से अलग कर लेना और साक्षी भाव से तटस्थतापूर्वक उन्हें देखना, उनके साथ किसी प्रकार का लगाव-तनाव व खिंचाव-चुनाव न होना, यही वेदान्त की सहज समाधि है। इसमें वृत्तियों को रोका नहीं जाता, किन्तु उनसे सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। संबंध न होने के कारण किसी भी प्रकार की वृत्ति उठे, साधक को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, जैसे बहते गंगा के प्रवाह में फूल-पत्ते लकड़ियाँ यहाँ तक कि कभी-कभी बहता हुआ मुर्दा भी चला आता है, किनारे पर खड़ा आदमी इन सबको देख तो रहा है, किन्तु वह इन सबमें आबद्ध नहीं है। इन सबसे असंगता प्राप्त होने के कारण यदि फूल आते हैं तो वह प्रसन्न, व मुर्दा आ जाने से खिन्न नहीं होता, उसमें किसी प्रकार की खिन्नता नहीं आती, उसकी बुद्धि में समता ही रहती है, जिस बुद्धि में समता आ जाती है, उसमें क्षमता भी आ जाती है। क्योंकि मनुष्य जब समबुद्धि से किसी भी कार्य को करेगा, तो वह विक्षिप्त नहीं होगा, उसकी बुद्धि समाहित हो जायगी और समाहित बुद्धि में निजानन्द की अनुभूति होती ही है, यह एक अटल नियम है, जिस प्रकार दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण करता ही है, अगर वह सीधा पड़ा है तो आकाश का प्रतिबिम्ब ग्रहण करेगा, अगर मुख की ओर उसका रुख है, तो वह मुख प्रतिबिम्बित हो जायगा। उसे प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं करना पड़ता, किन्तु वह उसमें स्वयं आता है। समाहित मन में आनन्द लाना नहीं पड़ता, किन्तु उसमें आनन्द की अनुभूति होती ही है।

जगत में हमारी विषम दृष्टि ही हमें भटका रही है, हम किसी के अन्दर मित्र की भावना कर लेते हैं, और किसी के अन्दर शत्रु की, किसी को अपना समझते हैं, किसी को पराया, किसी से राग कर लेते हैं, किसी से द्वेष, किसी के मोह में आसक्त हो जाते हैं तो किसी के साथ सख्त हो जाते हैं। हमारी बुद्धि भ्रमीभूत हो एक ऐसे विचारधारा के चक्कर में पड़ जाती है, कि उसमें कोई लाभ नहीं, व्यर्थ का चक्कर-चिन्तन, मन को अशांत करता रहता है। जो साधक अभ्यास द्वारा मन को साक्षी होकर देखता है, उसके मन में उठती वृत्तियाँ बन्धनकर्ता नहीं रहती। उसमें किसी प्रकार की विषमता नहीं आती और वह समतापूर्वक उसमें उठती उन वृत्तियों को देखता रहता है, यही समाधि है।

स्विट्जरलैण्ड में मि० कार्ल बुक मैंन हुए हैं, जो मौरल रिआर्मीमेंट के अध्यक्ष हुए हैं, उन्होंने इस साक्षी भाव को परिपक्व करने का एक बहुत ही सुन्दर उपाय जनता के सामने रक्खा, वे कहते हैं कि कागज-पेन्सिल लेकर 15 मिनट के लिए एकान्त में बैठ जाओ। मन में जो भी वृत्ति उठे, उसे लिखते चले जाओ, अगर कोई वृत्ति नहीं उठती, तो उस समय एक लाइन लगा लो, ताकि मनुष्य 15 मिनट के बाद जब अपने ही मन में अन्दर उठते विचारों को पढ़ेगा, तो उसे अपने मन की सही हालत का पता लग जायगा, कि उसका किससे राग-द्वेष है, व किसे वह अपनाना चाहता है, और किसे हटाना चाहता है। किसी के प्रति घृणा के भाव किसी के प्रति दण्ड देने या मार देने के भाव स्पष्ट रूप से सामने आ जायेंगे और हमारे मन में जो कुछ भरा है, वह सामने आ जायगा।

कोई पूछेगा, इससे होगा क्या? इससे मानस दर्शन हो जायगा, मन के प्रति हम सजग हो जायेंगे, अभी तक जो अचेतावस्था में ही विचार उठते थे, वे सचेतावस्था में उठेंगे। अभी तक मन का हमें पता नहीं चल रहा था कि वह कहाँ जा रहा है, क्या कर रहा है, क्या उसका प्रयोजन है।

उसके प्रति सजग हो जाने से हमें इसका पता चल जायगा, जब किसी राजा को यह पता चल जाए कि दूसरा राजा उसके प्रति क्या चाल चल रहा है, तो वह उसके आक्रमण से बच सकता है, नहीं तो वह कभी अचेत ही मारा भी जा सकता है। कार्लबुक मैंन यह भी कहते हैं कि लिखित विचारों को फिर 4 कसौटियों पर कसो, जो विचार इन 4 कसौटियों पर कसे जायें, उन्हें अपनाओ व बाकी को छोड़ दो, इससे सत्-असत्, शुचि-अशुचि का विवेक हो जायगा। जब विवेक जाग्रत हो जाता है, तो मनुष्य सचेत हो जाता है।

चार कसौटियाँ ये हैं :-

1. क्या यह बिल्कुल सत् है?
2. क्या यह बिल्कुल प्रेम है?
3. क्या यह बिल्कुल निस्वार्थता है?
- 4 और क्या यह बिल्कुल शुद्ध है?

इन चारों पर विचारों को कसने से विचारों में विवेक हो जायगा, जहाँ मनुष्य सचेत हो जाता है और उसे विवेक हो जाता है, तो हरेक काम के करने में वह सजग

रहेगा, और इन कसौटियों पर कसने से उसकी बुद्धि में विषमता नहीं आयगी।

कर्लबुक मैन की यह उक्ति कोई नवीन नहीं, हमारे मुनियों व तत्त्ववेत्ताओं ने मानस-दर्शन पर बहुत जोर दिया है, साक्षीभाव से देखने के लिए कहा है और जो भी मनुष्य इस पथ का पथिक होगा, उसकी बुद्धि सम हो जाने के कारण समाधि को प्राप्त हो जायगी।

जैसे कहावत मशहूर है, कि पुरानी शराब नई बोतलों में नये लेबिल लगे होने से ज्यादा रुचिकर लगती है। आज कल के पढ़े-लिखों को अगर कोई विचार पाश्चात्य से आता है, तो उसके अन्दर अधिक महत्वबुद्धि होती है। अपनी संस्कृति का उन्हें पता नहीं और वही बात जब नए मनुष्य के द्वारा नए ढंग से मिल जाती है, तो वह रुचिकर होती है।

किसी प्रकार का लगाव न होना, तटस्थता होना, किसी के साथ में राग-द्वेष का न होना, बुद्धि का सम होना, किसी के साथ में चुनाव न होना कि मुझे यह संपत्ति या व्यक्ति मिल जाए तो मैं सुखी हो जाऊँ। हम चुन-चुनकर दुनिया की वस्तुओं को ग्रहण करना चाहते हैं, फिर वे जब नहीं मिलती तो हम उनके अभाव में दुःखी होते हैं। उन चीजों के चुनाव का अभाव खटकने का कारण बन गया है। जहाँ बनाव, अर्थात् किसी प्रकार की बनावट नहीं, जहाँ साधारणतया, सहजता और सरलता है, लगाव, चुनाव, बनाव व किसी प्रकार का खिंचाव नहीं। संसारी लोगों में प्रायः खिंचाव बना रहता है, वे सदा उद्विग्न से रहते हैं, और इसी बात के चक्कर में पड़े रहते हैं कि आगे क्या होगा? हम मर जायेंगे तो क्या होगा? घर का कोई व्यक्ति चला जायगा, तो क्या होगा? हम एक-एक की कल्पना करके भयभीत हो रहे हैं। हम वर्तमान में सुखी हैं, किन्तु उस सुख का लाभ नहीं उठा रहे हैं, हम तो घूम रहे हैं, भूत-भविष्य के चक्कर में, जिससे हमारा जीवन विषम है, जहाँ विषमता होती है, वहाँ बुद्धि सम नहीं होती, अर्थात् समाधि नहीं होती।

कष्टपूर्वक मन को रोकने के बजाए, तटस्थापूर्वक अगर हम मन को देखना प्रारम्भ कर देते हैं, तो हमें मन रोकना नहीं पड़ता, मन अपने आप ही रुक जाता है। मन हमारी ही सत्ता को लेकर प्रबल हो रहा है अगर हम अपनी सत्ता तटस्थ होने के नाते अलग कर लेते हैं, तो मन निर्बल पड़ जाता है, और निर्बल मन, समाधिस्थ हो जाता है। उसे समाधि लगानी नहीं पड़ती और यह

समाधि आँख बन्द करके बैठने तक ही परिमित नहीं, किन्तु चलते, फिरते, जागते मनुष्य समाधिस्थ हो सकता है। क्योंकि उसे विषय तो प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु वे विषय विचार के कारण नहीं। उसे पदार्थ तो प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु वे किसी बन्धन के कारण नहीं, वह तो केवल है ही, और अपने आप में स्थित है। पदार्थ व्यक्ति-संपत्ति मन के बहाव के अन्दर आते हैं, व जाते हैं, किन्तु वह इन सबका साक्षी हो देख रहा है, यही है सहज, सरल और सजग समाधि। जिसको कोई भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

कन्हाई कब मिलता है?

श्रीकृष्ण की प्राप्ति साधन-साध्य नहीं है, अतः यह प्रश्न सार्थक नहीं है कि श्रीकृष्ण कैसे मिलते हैं।

जो केवल अपनी कृपा से ही मिलता है, वह कब किसे मिलेगा और किसे नहीं मिलेगा, यह कोई नहीं कह सकता। जो बड़े-बड़े तपस्वियों, ऋषि-मुनियों की भी उपेक्षा कर दें और कपटी असुर व्योम, प्रलम्ब को भी मित्र बना ले, उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता; किन्तु कुछ नियम हैं, जिन्हें यह ब्रजराजकुमार भी तोड़ नहीं पाता।

1-जब किसी के प्राणों में इससे मिलने की ऐसी प्यास जगे कि इसके न मिलने पर प्राण, देह-त्याग का ही प्रमाण करने वाले हों, तब उस क्षण—उसी क्षण कन्हाई दौड़ा आता है।

2-जब कोई इसके आने का सब प्रयत्न करके थक कर निराश होकर मर जाता है, तब कृष्ण उसे उठा लेने से अपने को रोक नहीं सकता।

3-जिसका कोई नहीं होता-सचमुच जो किसी को अपना मानकर किसी का तनिक भी भरोसा नहीं करता और अपनी शक्ति, विद्या-बुद्धि भी जिसे सहारा देती नहीं दीखती, इतने पर भी जो कृष्ण के भरोसे निर्भय निश्चित है, कृष्ण उसका अपना।

4-आपको 'सर्व धर्मान् परित्यज्य.....स्मरण है सब धर्मों' साधनों का आश्रय त्याग कर जो केवल कन्हाई पर निर्भर है, कन्हाई उसे मिला ही है।

5-जिसकी जीभ भोजन, जल पीने, निद्रा तथा अत्यावश्यक वार्ता के अतिरिक्त भगवन्नाम रटती रहती है, कृष्ण उसे मिला-मिलाया है। कौन कहता है कि नाम यह स्वयं नहीं है?

मोक्ष क्या है?

किसी कल्पित स्थिति का नाम मोक्ष नहीं है। जो किसी प्रकाश दीखने, शब्द सुनने-से या आशीर्वाद से मोक्ष बतलाता है, वह आपको बहकाता है।

मोक्ष का अर्थ है बन्धन का छूट जाना। आपने गाय के बछड़ों को बाँधा है? वह कूदकर एक ओर जाना चाहता है; किन्तु गले की रस्सी उसे खूँटे के पास रोक लेती है। इसका नाम बन्धन है।

आप कहते हैं—‘जाना तो मुझे भी बट्टीनाथ था, पर क्या करें—घर पर आजकल कोई नहीं है।’ एक साधु के पास सत्संग को जाते हैं और थोड़ी देर में कहते हैं, ‘अब बाजार जाना है, नहीं तो हानि होगी।’ अथवा—‘घर पर लड़का बीमार है। जल्दी पहुँचना है।’

एक भले काम में आपको सम्मिलित होना है, पर श्रीमती जी अनुमति नहीं देती और आप उसे सम्मिलित होने से रुक जाते हैं।

यह सब बन्धन है जो आपको रोक लेता है। आपको यह बन्धन नहीं दीखता तो आप मोक्ष की बात व्यर्थ करते हैं।

यह बन्धन क्या है? घर, पुत्र, पत्नी—बाजार किसी को बाँधता नहीं। काम, लोभ, मोह है इनमें और वही इनसे आपको बाँधता है। घर, पुत्र, परिवार, धन, पद—प्रतिष्ठा खूँटे अवश्य हैं, किन्तु उनसे बाँधने वाली रस्सी आपके भीतर है। रस्सी न हो तो खूँटा बछड़े को बाँधेगा? गले में रस्सी बाँधी हो तो एक खूँटे से वह छूट भी जाय तो वह और कहीं उलझ जायगी।

मोह शरीर का, धन का, परिवार का, पद—प्रतिष्ठा का। लोभ और भोग की कामना; ये रस्सियाँ हैं—एक नहीं अनेक रस्सियाँ। ये मन में बाँधी हैं तो आप बद्ध हैं। फिर आपको कोई ज्ञान हुआ हो और आपने कोई स्थिति पायी या देखी हो अथवा आपको किसी ने भी कोई आशीर्वाद दिया हो।

मुक्त का अर्थ है बन्धन से छूटा हुआ। जिसे न पद—प्रतिष्ठा बाँधती, न धन—भवन या परिवार। शरीर की चिन्ता भी नहीं छूती जिसे। आप अपने को देखिये कि क्या ऐसा मोक्ष आपको प्राप्त है। क्या आप इन्द्रियों की दासता से, मन की लिप्सा से, भय—चिन्ता—शोक से छूट चुके हैं? यदि ऐसा नहीं है तो आपने किसी कल्पना को मोक्ष नाम दे दिया है।

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

गुणेशु सक्त बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

— श्रीमद्भागवत

मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण उनका मन ही है।

मनुष्य को छोड़कर दूसरे सब प्राणी तो बद्ध हैं ही। उनका मन भी स्वभाव—परतन्त्र है। वे भोग योनि में हैं, इसलिए उन्हें निसर्ग से—जन्म से स्वभाव मिला है और उसके ही अनुसार उन्हें जीवन पूरा करना है। केवल मनुष्य प्रयत्न करके अपने मन में परिवर्तन कर सकता है।

यह हमारा मन यदि गुणों में—प्रकृति में आसक्त है तो वह हमें बन्धन दे रहा है। गुण—सत्त्व, रज और तम अर्थात् सम्पूर्ण जगत। जगत में यह अच्छा—यह बुरा, यह अपना—यह पराया, यह उपयोगी—यह अनुपयोगी इसी में मन आसक्त है तो बन्धन कटा कहाँ। यह मन का संसार की अच्छाई—बुराई में लगना ही तो बन्धन है।

आसक्ति—संसार की, संसार में किसी की, अपने शरीर और नाम का भी बन्धन है; किन्तु आसक्ति ही बन्धन नहीं है। आसक्ति ही मोक्ष भी है, यदि आसक्ति पुरुष में अर्थात् परमात्मा में है।

‘रतं वा पुंस मुक्तये।’

मन—हो तब तक है, जब तक वह शरीर में, संसार में लगा है। जब मन परम पुरुष, अन्तर्यामी राम में—वासुदेव में लगता है तो वह मन नहीं रह जाता। तब तो वह उस नारायण से तदाकार हो जाता है।

मन कहीं संसार में नहीं लगता—कहीं आपको जाने को विवश नहीं करता। संसार के किसी पदार्थ, प्राणी, परिस्थिति की—देह की भी चिन्ता आपको अपनी ओर नहीं खींच पाती तो आप मुक्त हैं।

तब आपका मन पुरुषोत्तम में लगा है—पुरुषोत्तम है। वह पुरुषोत्तम जो सदा है, सर्वत्र है, सर्वरूप है, आपका वास्तविक स्व है। तब आप उसमें प्रतिष्ठित हैं। तब आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। इसका नाम मोक्ष है।



खण्ड-2 : विवेक बिन्दु एवं मधु बिन्दु

विवेक-बिन्दु : 1

❖ किसी भी भाव से भगवद्-चिंतन उद्धार करने वाला है; किन्तु भय, द्वेष, घृणा, क्रोध से किया गया चिंतन जीवन में उद्वेग—अशान्ति देता है। प्रीतिपूर्वक भगवद्-चिंतन का नाम ही भक्ति है।

❖ प्रीति का नियम है कि वह अपनत्वपूर्वक ही होती है। जो अपना नहीं है, उससे सच्ची प्रीति सम्भव नहीं है। भले ही उसमें कितना भी रूप, गुण, धन आदि हो। अतः भगवान से प्रीति होने के लिए आवश्यक है कि उनसे अपना कोई सम्बन्ध हो।

❖ सम्बन्ध वह सच्चा और प्रीतिदाता होता है, जिसकी अपने जीवन में माँग हो। जिसके अनेक पुत्र हैं और उन पुत्रों में प्रीति भी है, वह भगवान को पुत्र मानेगा तो उसकी इस मान्यता में प्रगाढ़ता आने की सम्भावना कम ही है। जिनके पुत्र नहीं हैं या इकलौता पुत्र मर गया है, पुत्रेच्छा या पुत्र का मोह प्रबल है, वह भगवान को पुत्र मानेगा तो उसकी मान्यता प्रबल होने की अधिक सम्भावना है।

❖ केवल अमुक भाव श्रेष्ठ है, यह पढ़-सुनकर किया गया भाव बड़ी कठिनाई से सच्चा हो पाता है। उदाहरण के लिए स्त्री के लिए भगवान के प्रति मधुर भाव—सखी भाव सरल, स्वाभाविक है; किन्तु पुरुष के लिए यह बहुत कठिन है, क्योंकि उसके मन में ऐसे किसी सम्बन्ध की सहज माँग नहीं है। उसे यह सम्बन्ध केवल धारणा से बनाना है।

विवेक-बिन्दु : 2

❖ संसार के किसी व्यक्ति को केवल मानकर अपना नहीं बनाया जा सकता; किन्तु भगवान् तो अपने हैं ही। उन्हें जो कुछ अपना माना जायगा, यदि हमारी मान्यता सच्ची है तो भगवान् उस सम्बन्ध को सच्चाई से स्वीकार कर लेते हैं।

❖ जैसे ज्ञान के मार्ग में संसार के मिथ्यात्व का बोध भी हो और भोगासक्ति—संग्रह परिग्रह भी हो यह सम्भव नहीं है। जहाँ यह दीखे, वहाँ केवल दम्भ है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान—जगत के मिथ्यात्व का बोध जिस बुद्धि में है, उसी में विषयासक्ति का रहना शक्य नहीं है। इसी प्रकार जिसमें सचमुच मधुर भाव है, वह मन से भगवान् में सखी भाव, कान्ता भाव रखता है। अतः यह अपनी पत्नी से भी सन्तानोत्पादन कैसे कर सकता है। उसमें स्त्री के प्रति काम का जागरण ही शक्य नहीं।

❖ प्रेम मनुष्य में—स्त्री-पुरुष सब में, प्राणिमात्र में निसर्ग से है। डाकू में, चोर में, अनाचारी में, वेश्या में भी अपने पुत्रादि के प्रति प्रेम तो होता ही है—सच्चा प्रेम होता है। यह प्रेम यदि भगवान् के प्रति हो जाय तो अवश्य उससे उसको भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

❖ भगवत्प्रेम का उदय सदाचारी में ही होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। भगवान के प्रति दास्य, सख्य, वात्सल्य का उदय किसी में भी हो सकता है और यदि वह प्रेम सच्चा है तो भगवान उसे स्वीकार करके उसके हो जायँगे।

उदाहरण के लिए कोई जीवन भर वेश्या रही, अब उसके सर्वाङ्ग में गलित कुष्ठ है; किन्तु उसके हृदय में श्रीकृष्ण को कान्त के रूप में पाने की तीव्रतम व्याकुलता जाग उठी है तो उसे श्रीकृष्ण अवश्य मिलेंगे और वैसे ही स्वीकार करेंगे जैसे कुब्जा को स्वीकार किया था।

❖ लोभी या दरिद्र धन देखता है। संसारी व्यक्ति गुण देखता है। कामी पुरुष शरीर का सौन्दर्य, वय तथा दैहिक पवित्रता देखता है; किन्तु भगवान को तो यह सब कुछ देखना नहीं आता। वह दीनबन्धु, पतित पावन केवल हृदय का भाव—सच्ची प्रीति देखता है और उस प्रीति के अनुसार उसी भाव से स्वीकार करता है।

विवेक-बिन्दु : 3

❖ भावना की शक्ति अनन्त है; क्योंकि भावना भक्ति हो सकती है जिसके वश में भगवान् होते हैं। अतः भावना को कल्पना कहना नासमझी है। कल्पना में स्थिरता तथा शक्ति नहीं होती; किन्तु भावना—मैं पूछूँ कि

आप यदि मातृभक्त हैं तो माता का स्मरण क्या आपको गद्गद नहीं कर देता? एक सामान्य नारी का स्मरण—कल्पना से उसे माँ मान लेने से इतनी शक्ति प्राप्त कर सकेगा।

❖ हमारा समस्त जीवन भावना पर आधारित है। आप रासायनिक विवेचन करें तो आपकी थाली के भोजन तथा मल में प्रोटीन, चीनी आदि बहुत तत्त्व समान मिलेंगे; किन्तु आपकी भावना क्या रसोई में वह मल प्रविष्ट होने देगी?

❖ हमारे सब सम्बन्ध भावनात्मक हैं। राष्ट्रगीत, राष्ट्रध्वज का स्थान भावनात्मक नहीं हैं? इनकी सम्मान रक्षा के लिए होने वाले बलिदान गौरव है या नहीं?

माता-पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र तथा अन्य सम्बन्ध भावनात्मक ही तो हैं और यह भावना यदि दृढ़ हो तो इतनी पवित्र है कि जगदीश्वर स्वयं इसका बन्धन स्वीकार करके पवित्र होता है—प्रसन्न होता है।

❖ भावना जगत को परिवर्तित कर दे सकती है। भावना जगत को वैकुण्ठ बना दे सकती है। हमारा सब सुख-दुःख भावनात्मक है।

❖ आप स्थिर पवित्र भावना दीजिये और आनन्द, शान्ति, मुक्ति या भगवान् जो चाहें लीजिये।

विवेक-बिन्दु : 4

❖ सामान्यतः भक्ति का अधिकारी वह है, जो न अतिशय संसार या भोगों में आसक्त है और न अत्यन्त विरक्त है। जिसके मन में भगवत्प्राप्ति की कामना है, जो संसारासक्ति को त्यागना चाहता है; किन्तु अपनी दुर्बलतावश त्याग नहीं पाता, वह भक्ति का अधिकारी है।

❖ केवल मनुष्य ही धर्म का, ज्ञान का, योग का अधिकारी है; किन्तु भक्ति के अधिकारी देवता, दैत्य, पशु-पक्षी प्राणिमात्र हैं।

धर्म में विधि के ज्ञान एवं सामग्री की अपेक्षा है। योग और ज्ञान के अधिकारी भी निर्मल अन्तःकरण मनुष्य हैं। केवल भक्ति समस्त अन्तःकरण

को भी शुद्ध करती है। पापी, पतित भी भक्ति के अधिकारी हैं; क्योंकि श्रीभगवान् पतित-पावन, अधमोद्धारक हैं।

❖ केवल भक्ति है जिसमें किसी बाह्य सामग्री की, विधि विशेष की, जानकारी विशेष की अपेक्षा नहीं है। जो कोई भी, चाहे वह जैसा भी हो, जैसे भी उसके लिए सम्भव हो, जैसे भी उसे भगवान् का स्मरण करना आता हो, अपने स्वभाव, जानकारी, प्रीति के अनुसार भगवान् का स्मरण-पूजन कर सकता है। उसी के द्वारा उसका उद्धार अवश्य हो जायगा।

❖ भगवान् में श्रद्धा और प्रीति — भक्ति में केवल यही आवश्यक है। भक्ति में अपना बल, अपनी विद्या-बुद्धि, अपनी साधन-सामग्री, अपना कर्तृत्व आवश्यक नहीं है। भक्ति में अपने को सर्वथा भगवान् के ऊपर छोड़ देना है। भक्ति में भगवान् को सब कुछ करना है।

विवेक-बिन्दु : 5

❖ यह परम सत्य सदा स्मरण रखना चाहिए कि सम्पूर्ण अनर्थों का मूल देहासक्ति है। देहासक्ति का अर्थ शरीर, शरीर का नाम, शरीर के सम्बन्धी—इन सबमें आसक्ति। इनके सुख, समृद्धि, सुयश की अभिलाषा और इनके दुःख, दरिद्रता, अयश, अपमान का भय। इस देहासक्ति का समूलोन्मूलन हुए बिना आवागमन का चक्र समाप्त नहीं हो सकता। देहासक्ति का लेशमात्र भी रहने से जो ज्ञान, भगवद्दर्शन अथवा समाधि है, वह केवल मनोविलास है—एक मानसिक भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति किसी को भी हो, किसी भी कारण हो, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह भ्रान्ति है और इसके द्वारा परम सत्य की प्राप्ति अवरुद्ध होती है।

❖ देहासक्ति का—देह को लेकर परिच्छिन्नता का इस परिच्छिन्न अहं की विशिष्टता का अभिनिवेश जड़ से कट जाना चाहिए। व्यक्ति का रूप, गुण, विद्या, बुद्धि, बल, पद-प्रतिष्ठादि समाज के लिए महत्त्व के हो सकते हैं; किन्तु परमार्थ के प्रत्येक साधन का परम लक्ष्य देहासक्ति—मानसिक एवं बौद्धिक व्यक्तिगत विशेषता की आसक्ति का भी समूलोन्मूलन ही है। ज्ञान,

योग, भक्ति अधिकार भेद से इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इनमें-से किसी के द्वारा भी व्यक्ति को अपने परिच्छिन्न व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विसर्जन करके निर्विशेष हो जाना है। व्यक्ति में अपनी कोई विशेषता, कोई आसक्ति रही है तो वह बद्ध जीव है। भले उसे कोई समाधि, कोई ज्ञान—बौद्धिक स्थिति अथवा दर्शन, मानसिक अनुभूति प्राप्त हो।

विवेक-बिन्दु : 6

❖ निर्गुण-निराकार की न उपासना सम्भव है, न ध्यान केवल आत्मरूप में उसका अनुभव सम्भव है।

सगुण निराकार से केवल प्रार्थना की जा सकती है। उसका ध्यान, उपासना सम्भव नहीं।

ध्यान और पूजन केवल साकार का हो सकता है। ज्योति का ध्यान भी हो तो ज्योति साकार होगी। शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध को भी मन को एकाग्र करने का साधन बना सकते हैं।

पूजा सदा स्थूल की—जड़ की ही होगी। आप चलते-फिरते प्राणी की पूजा भी करें तो उसके जड़ देह की ही पूजा होगी। जड़ को माध्यम बनाये बिना चेतना की पूजा सम्भव नहीं है।

❖ चेतन को केवल ज्ञान होता है कि मेरी पूजा या तिरस्कार हुआ। सुख-दुःख तृप्ति-अतृप्ति ज्ञान मात्र हैं। पूजा या आहार के द्रव्य जड़ देह को ही मिलते हैं।

अतः यदि जड़ देहस्थ चेतन देह की पूजा के ज्ञान से तुष्ट होता है तो सर्व-व्यापक ईश्वर जो सर्वज्ञ है, मूर्ति के माध्यम से होती पूजा को अपनी जानकर अवश्य सन्तुष्ट होगा।

❖ जड़ पदार्थ जड़ को ही प्राप्त हो सकते हैं। चेतन को उनकी प्राप्ति का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का ही नाम उपभोग है। एक निद्रित व्यक्ति की नासिका के सम्मुख इत्र रख दें तो क्या सुगन्धि का उसके द्वारा उपभोग हुआ?

❖ केवल प्रेम है जो ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, सदाचार सबसे निरपेक्ष किसी भी हृदय में उदित हो सकता है और जहाँ उदित होता है—जिस रूप में उदित होता है, वहीं अपने अनुकूल रूप में परमात्मा को अपना बना लेता है।

विवेक-बिन्दु : 7

❖ इस देहाभिमान—देहासक्ति के उन्मूलन के मुख्य रूप से तीन साधन हैं—1. ज्ञान, 2. योग, 3. भक्ति। तीनों की आधार भूमि धर्म, सदाचार, संयम है। अधर्मी असदाचारी, असंयमी के लिए साधन नहीं है। उसके लिए संसार है। संसार के सुख-दुःख, मान-अपमान, संयोग-वियोग का प्रारब्धानुसार भोग और कर्मानुसार जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकना। संसार में वह पूर्व कर्मानुसार महान लोकनायक, प्रसिद्ध कलाकार, विश्व प्रसिद्ध व्यक्ति हो सकता है। पद-प्रतिष्ठा, बल-वैभव, सुख-सम्पत्ति, कला-प्रतिभा की अतर्क्य सीमा भी साधन के—परमार्थ के क्षेत्र में महत्वपूर्ण नहीं है।

❖ धर्म, संयम, सदाचार आधार भूमि है। इसी नींव पर साधन का महासदन खड़ा होता है। ज्ञान का अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति होता है। अर्थात् विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षा हो तब ज्ञान के उपदेश के श्रवण का अधिकारी है। यम-नियम जीवन में प्रतिष्ठित न हों तो आसन, प्रणायाम, धारणा, ध्यान का अभ्यास सविकल्प समाधि भले प्राप्त करा दे, पर वैराग्य की प्रतिष्ठा-प्राप्ति नहीं होगी और उसके बिना निर्विकल्पस्थिति प्राप्त नहीं हुआ करती। इसी प्रकार भगवत्प्रेम भी हो और भोगासक्ति, इन्द्रियासक्ति या देहासक्ति भी बनी रहे, यह सम्भव नहीं है।

❖ यहीं यह बात भी ध्यान में रखने की है कि नींव ही भवन नहीं है। धर्माचरण, सदाचार, संयम, तप की कोई भी बड़ी सीमा ज्ञान, योग तथा भक्ति की प्रारम्भिक स्थिति के भी तुल्य नहीं है, क्योंकि धर्माचरण, संयम, सदाचार, तप तथा परोपकार की स्वयं कोई प्रतिष्ठा नहीं है। ये कब तक जीवन में बने रहेंगे, इसका आश्वासन नहीं है। इनका फल सिद्धि तथा स्वर्ग है। स्वर्ग-भोग के पश्चात्?

❖ समाज की दृष्टि से संयमी, सदाचारी, धर्मात्मा का बहुत महत्व है; किन्तु वह कब पथच्युत हो जायगा, कोई कह नहीं सकता। वह कितना भी महान हो, है जन्म-मरण चक्र के क्रम में ही। इसकी अपेक्षा अनन्त जीवन की दृष्टि से वह श्रेष्ठ है जो योग, ज्ञान अथवा भक्ति की ओर प्रवृत्त हो चुका। वह कितना भी अनाचारी, असंयमी, अधर्मी हो, उसने वह पथ पकड़ लिया जो जन्म-मरण के चक्र से पार कर देता है। भले उसे कई सहस्र जन्म लगें; किन्तु उसका पार हो जाना सुनिश्चित हो गया।

❖ कर्म—निष्काम कर्म या परोपकार, राष्ट्र सेवा या जन सेवा कर्मयोग नहीं है। वह केवल उत्तम कर्म-धर्म है। धर्म—जिसका फल पुण्य होता है। कर्म तब कर्मयोग होता है, जब वह भगवत्प्राप्ति के लिए, भगवत्सेवाभाव से, भगवत्प्रीत्यर्थ होता है अथवा अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया जाता है।

❖ योग का स्वरूप है चित्तवृत्ति निरोध। लययोग, राजयोग आदि जितनी भी योग की शाखाएँ हैं, उनका लक्ष्य यही है। यदि वृत्तिनिरोध लक्ष्य न हो तो वह योग नहीं है। भले उसके द्वारा कोई शब्द सुनायी पड़े, कोई रूप या ज्योति दीखे अथवा कोई गन्धानुभव हो। इन अनुभवों का चमत्कार साधक को भ्रम में डाल सकता है।

❖ चमत्कार—वह योग का हो या जादू का, केवल भ्रान्ति उत्पन्न करता है। उसका कोई पारमार्थिक मूल्य नहीं है। वह साधक की प्रगति में एक बाधा—रुकावट है। जन सामान्य के कौतूहल की शान्ति और जिसमें है, उसे प्रशंसा, प्रतिष्ठा, धन एवं भोग दिलाने मात्र तक चमत्कारी शक्ति सीमित है।

विवेक-बिन्दु : 8

❖ रात्रि में भी निद्रा टूटती हैं अनेक बार और लघुशंकादि के लिए उठना पड़ता है। जो भगवन्नाम लेते सोये हैं या जो स्मरण करते हुए सोये हैं, उसी नाम को लेते-वही ध्यान करते निद्रा टूटे, ऐसा अभ्यास कर लीजिये और फिर वैसा ही जप-ध्यान करते सो जाइये।

❖ सूर्योदय से एक प्रहर (3 घण्टे) पहले जाग जाना सर्वोत्तम है। ऐसा न हो सकता हो, तब भी सूर्योदय से पहले तो उठ ही जाना चाहिए। सूर्य निकलने तक भी सोते रहना भारत में अशुभ-अमंगल का मूल माना जाता है।

❖ नींद टूटे तो पहले पलक बन्द रहते ही भगवन्नाम मुख से निकलना चाहिए। जो ध्यान करते सोये थे, वह ध्यान आना चाहिए।

❖ यदि लेते रहने से फिर नींद आ जाने की आशंका हो, तब तो उठकर बैठ जाना चाहिए। ऐसा न हो तो लेते-लेते कुछ मिनट भगवान का नाम-जप—भगवान-का स्मरण करना चाहिए।

❖ पलंग या बिस्तर से उठकर पृथ्वी पर पैर रखने से पहले भूदेवी को प्रणाम करना चाहिए।

❖ सबेरे उठकर पहले अपनी दोनों हथेलियों को देखना चाहिए। शयन-स्थान-पर भगवान या देवताओं के चित्र हों तो उनका दर्शन करना चाहिए—यदि कमरे में प्रकाश हो। यदि प्रकाश न हो और उस समय प्रकाश न करना हो तो यह काम तब करें, जब प्रकाश करना हो। दूसरा कोई उस कमरे में सो रहा हो तो धीरे से उठना चाहिए और प्रकाश बिना जलाये काम चल सके तो प्रकाश नहीं जलाना चाहिए। पृथ्वी पर पैर रखते ही पुण्य श्लोक पुरुषों, अमर पुरुषों का स्मरण करना चाहिए।

❖ कुछ लोगों को उठते ही लघुशंका या शौच जाने की आवश्यकता होती है, ऐसा हो तो यह करके, ऐसी स्थिति न हो तो कुल्ला करके, मुख धोकर बैठ जाइए। बिस्तरे पर भी बैठ सकते हैं। कुछ देर भगवान का स्मरण कीजिये।

❖ इसी समय दिन भर के कार्यों का स्मरण करके कार्यक्रम का निर्णय कर लीजिये। इसी समय संकल्प कर लीजिये कि दिन में कोई असत्-कर्म—असदाचरण नहीं करेंगे।

विवेक-बिन्दु : 9

पाप-पुण्य का सम्यक फल कर्ता को मिलता है, यह बात सम्भव है जब स्वर्ग-नरक की माना जाय। इसी प्रकार जग कर्मानुसार जन्म मानेंगे तब पितृलोक भी मानना पड़ेगा। कैसे सम्भव है कि अनेक ओर जाने वाले रेलमार्ग हों और प्रतीक्षालय न हों। जीव को अकेले कर्मभोग नहीं मिलना है। उसे किसी माता-पिता का पुत्र होना है। किसी का भाई, मित्र, पति, पिता। वे सब जीव जब तक उपयुक्त स्थिति में न हों, किसी मृत प्राणी का तत्काल जन्म कैसे सम्भव है? अतः जब तक जन्म की स्थिति न प्राप्त हो उसे प्रतीक्षा का स्थान तो चाहिए। यही स्थान पितृलोक है।

प्रतीक्षा के समय कर्मार्जन नहीं होता। पूर्वार्जित का ही भोग होता है। पितर के पास स्थूल देह नहीं होता; किन्तु सूक्ष्म देह—मन, इन्द्रिय होते हैं। अतः उसे स्थूल भोग आवश्यक नहीं; किन्तु स्थूल-पदार्थ की प्राप्ति की मानसिक क्षुधा उसे लगेगी, और पदार्थ प्राप्त होने के बोध से होने वाली तृप्ति उसे होगी।

प्रतिनिधि के मानापमान से हमें-आपको संतोष या रोष होता है। हमारे धन को दूसरा भी दान करे तो पुण्यफल हमें प्राप्त होगा, यह हम जानते हैं। अतः मृत व्यक्ति के धन से उसके उत्तराधिकारी दान-पुण्य करें तो पुण्यफल मृत व्यक्ति को मिलेगा ही। प्रतिनिधि ब्राह्मण के द्वारा श्राद्ध कराके-भोजन कराके उसे जो पितृलोक में है, मानसिक तृप्ति दी जाती है। क्योंकि पता नहीं कि वह जन्म ले चुका या अभी प्रतीक्षा में है, श्राद्ध किया जाना चाहिए।

कर्म का फल कर्ता को भोगना ही पड़ता है। प्रायः पाप-पुण्य का फल पृथक-पृथक भोगना पड़ता है। कुछ ही पाप ऐसे हैं जो पुण्य का फल नष्ट कर देते हैं। जैसे अतिथि निराश लौटे तो पुण्य क्षय होता है। ऐसे ही कुछ ही कर्म हैं जो पाप क्षय करते हैं। गंगा-स्नान, भगवन्नाम स्मरण, प्रायश्चित्त आदि।

विवेक-बिन्दु : 10

एक आध्यात्मिक तथ्य यह भी है कि किसी कारण मरण से पूर्व कोई ऐसी कामना या संस्कार मन में आ जाय कि उसकी पूर्ति प्राकृत जगत् में सम्भव न हो—जैसे मुक्त पुरुष के प्रति आसक्ति, तो अत्यन्त पापी भी मुक्त हो जायेगा; क्योंकि अन्तिम-संस्कार प्रारब्ध-शृङ्खला नहीं बना सकता।

*

*

*

जब कभी ऐसा होता है कि कोई अन्तिम-संस्कार के कारण मुक्त होता है, उसका सञ्चित बचा रह जाता है। तब उसकी सेवा-स्तुति करने वालों को उसके पुण्य तथा निन्दा करने एवं पीड़ा देने वालों को उसके पाप प्राप्त हो जाते हैं।

*

*

*

कर्म-विधान में औदार्य यही है कि मनुष्य के मरने पर अन्तिम-संस्कार को मुख्य रखकर उससे बनने वाले प्रारब्ध से समन्वय करने वाली प्रारब्धों की शृङ्खला छोटी-से-छोटी बने। उस जीव को यथाशीघ्र मानव-जीवन देकर मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो।

*

*

*

इस प्रक्रिया का एक अनिवार्य परिणाम है कि सञ्चित में अशुभ कर्मों की राशि बढ़ती जाती है। वर्तमान जीवन के घोर अशुभ कर्मों के संस्कार भी सञ्चित में पड़े रह सकते हैं और शुभ कर्मों के संस्कार फलोन्मुख होकर शीघ्र मानव देह अथवा उत्तम फल देने का अवसर बार-बार पाते रहते हैं।

*

*

*

सञ्चित की कर्म राशि का नाश केवल तब होता है, जब मुनष्य जीवन में ज्ञान के द्वारा मुक्त हो जाय, योग के द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर ले अथवा भक्ति के द्वारा भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने में समर्थ हो जाय।

*

*

*

ज्ञान में प्रतिबन्धक रह गया हो तो वह जन्मान्तर में, स्वर्ग में इन्द्र के द्वारा, यम लोक में यम के द्वारा अथवा ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है।

★ ★ ★

पुनर्जन्म मानने वाले को स्वर्ग, नरक तथा पितृलोक भी मानना ही पड़ेगा। क्योंकि एक घड़ी में मनुष्य इतना उग्र पाप या पुण्य कर सकता है कि उसका भोग किसी भी पार्थिक योनि में सम्भव नहीं। अत्याचारियों ने एक आदेश देकर लाखों व्यक्तियों की हत्या करवा दी। पुण्यात्मा शिवि, रन्तिदेव के पुण्य एक दिन के भी क्या किसी एक जीवन भोग देकर समाप्त हो सकते हैं?

स्वर्ग अर्थात् वह स्थान जहाँ भोग देह से पुण्यात्मा जीव को मनुष्य के समान ऐन्द्रियक भोग सहस्रों वर्ष भोगते रहने की शक्ति-सुविधा मिल जाती है। भोग देह में भोग-सुख है; किन्तु श्रान्ति या ऊबना नहीं है। जब पुण्य इतने कम हो जायें कि उनका फल सुख किसी भी पृथ्वी के शरीर में भोगना सम्भव हो, तब धरा पर जन्म होगा।

★ ★ ★

नरक अर्थात् वह स्थान (सूक्ष्म लोक में) जहाँ यातना देह से दुःख भोग सहस्रों वर्ष भोगना है। जिस देह में अग्नि में जलने, काटे जाने आदि की पीड़ा है; किन्तु मूर्च्छा या मृत्यु नहीं है। जब पाप कर्म इतने कम हो जायें कि उनका फल पृथ्वी पर किसी भी देह में रोगादि से भोगना सम्भव हो, तब धरापर जन्म होगा।

विवेक-बिन्दु : 11

साधक के जीवन में चमत्कार-सिद्धि आये ही, यह आवश्यक नहीं है। यह सर्वथा सम्भव है कि उसे कोई भी विचित्र अनुभूति न हो। ऐसे ही चमत्कार नहीं ही आये, ऐसा भी कोई उपाय नहीं है। किया यही जाना चाहिए कि चमत्कार की इच्छा न की जाय। किसी विचित्र अनुभव की माँग मन में न बसायी जाय। ऐसा कुछ हो तो उसकी उपेक्षा कर दी जाय। उसे न कहा जाय, न उसकी कोई चर्चा या पुनरावृत्ति की इच्छा की जाय।

★ ★ ★

चमत्कार का प्रदर्शन—यह दो प्रकार का होता है। एक किया जाता है,

एक हो जाता है। जैसे किसी साधक या संत के मन में कोई बात आयी, अथवा उसकी रक्षा के लिए कुछ आवश्यक हुआ तो समष्टि का सञ्चालक—ईश्वर या कोई देवता कुछ कर देता है। ऐसा कुछ हो या होगा, यह कल्पना भी साधक को नहीं होती। ऐसी अवस्था में चमत्कार होकर भी उसे साधक का न होने से बाधक नहीं है।

★ ★ ★

जब संकल्प पूर्वक साधक या सिद्ध चमत्कार उत्पन्न करता है तो व्यक्तित्व के अहं से तादात्म्य किये बिना ऐसा कर नहीं सकता। समष्टि में जो कुछ हो रहा है—ईश्वर की इच्छा से हो रहा है। उसमें परिवर्तन की चेष्टा—संकल्प का अर्थ ही है अपने व्यक्तित्व को पृथक करके पुष्ट कर देना। एक संत ने मुझसे कहा—‘जीवन में एक बार भी जानबूझकर सिद्धि का प्रयोग करने के पश्चात् उस जीवन से मुक्ति सम्भव नहीं है। फिर तो उसे सिद्धलोक की प्राप्ति होगी। वहाँ के भोग के पश्चात् पुनः जन्म होने पर साधन द्वारा मोक्ष सम्भव है।’

यह तथ्य इसलिए भी पुष्ट है कि जड़भरत, वामदेव, शुकदेवादि महापुरुष अपने को अज्ञात रखते रहे हैं। यह अकारण तो नहीं है।

★ ★ ★

भोग का—कर्मयोग का भी अधिकारी देहासक्त—इन्द्रियासक्त पुरुष है। शरीर में, इन्द्रिय-भोगों में जिसकी बहुत आसक्ति है, उसको शरीर को ही साधन का माध्यम बनाना चाहिए। योग—कर्मयोग भी शरीर द्वारा सम्पन्न होगा। इस देह के माध्यम से साधन होने लगेगा, तब देहासक्ति, भोगासक्ति क्षीण पड़ेगी।

★ ★ ★

ज्ञान का अधिकारी केवल निष्काम व्यक्ति नहीं है। ज्ञान का अधिकारी निवृत्ति-निरत व्यक्ति है। अर्थात् जिसके मन में कामनाएँ नहीं हैं और व्यवहार में जिसकी प्रवृत्ति नहीं है वह व्यक्ति। मन में भोगों के प्रति अनासक्ति तथा व्यावहारिक जीवन में भी कर्म-प्रवृत्ति का, संग्रह-परिग्रह का त्याग जिसमें हैं, वह विरक्त, वीतराग व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी है।

ज्ञान का स्वभाव निर्माण करना नहीं है। आचरण का सुधार एवं अन्तःकरण की शुद्धि, अन्तःकरण में सदगुणों का आधान ज्ञान नहीं करता—कर नहीं सकता। ज्ञान का स्वभाव वैसा है, जैसा प्रकाश का स्वरूप। प्रकाश स्थान को स्वच्छ नहीं किया करता। ज्ञान का काम है प्रकाशित कर देना—अज्ञान को मिटा देना। अतः शुद्धान्तःकरण, सदाचारी व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी है।

अनाधिकारी व्यक्ति को जब कोई साधन मिलता है तो उसका दुरुपयोग होता है। जैसे बालक के हाथ में तलवार या भरा पिस्तौल हो तो वह स्वयं को अथवा दूसरे को घायल कर देगा। ऐसे ही आचारहीन स्वार्थी व्यक्ति के हाथ में योग के साधन पहुँचकर जादूगरी बन जाते हैं। उसके दम्भ को, भोग को बढ़ाते हैं। इसी प्रकार अनाधिकारी व्यक्ति को प्राप्त परमतत्त्व का उपदेश बौद्धिक विलास बन जाता है। यह उसकी भोग-लिप्सा को बढ़ाता है। उसे धर्म, सदाचार, ईश्वर, पुनर्जन्मादि से आस्थाहीन कर देता है। सीधे शब्दों में इन्द्रिय-भोगों में आसक्ति के साथ निर्गुण तत्त्वज्ञान तथा देहात्मवाद-नास्तिकता में नाम मात्र का ही अन्तर है।

विवेक-बिन्दु : 12

हम? यही अनिर्वचनीय हैं। या तो हम प्रकृति के इस सञ्चालक से अभिन्न हैं या उसके खिलौने—यन्त्र हैं या फिर हम 'एकमद्वैत' हैं और यह खेल केवल स्वप्न है; किन्तु हम किसी भी रीति से न देह हैं, न मन, न बुद्धि और न इनके द्वारा हुए, होते, होने वाले कर्मों के कर्ता।

अब कर्मशास्त्र की बात—वर्तमान में किया जाता कर्म क्रियमाण। सम्पूर्ण कर्म-संस्कार राशि सञ्चित में—से इस जीवन के भोग के लिए पृथक-भूत कर्म राशि प्रारब्ध। यह प्रारब्ध परिवर्तनीय है। प्रबल पुण्य या पाप तथा अनुष्ठानादि इसमें परिवर्तन कर सकते हैं।

क्रियमाण कर्म सामान्यतः सञ्चित में मिलते जाते हैं। कर्म का फल बीज-वृक्ष-न्याय से होता है। अर्थात् जैसे यदि बीज उपयुक्त समय में, उपयुक्त स्थान पर बोया जाय, उसे खाद, पानी तथा रक्षा ठीक मिलती रहे, कोई उत्पात न हो—ओला-पाला आदि न पड़े, कोई चर न जाय या काट न फेंके तो उस बीज से कालान्तर में सहस्रों वैसे ही बीज उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार शुभ या अशुभ कर्म का फल भी कालान्तर में होता है—बहुत अधिक हो सकता है, कम हो सकता है, नहीं भी हो सकता। सब बातें बीज के फल-दान के समान देश, काल, परिस्थिति, श्रद्धा आदि की अनुकूलता-प्रतिकूलतादि पर निर्भर हैं।

केवल मनुष्य ही कर्मयोनि का प्राणी है। अर्थात् मनुष्य योनि में किये गये कर्मों का फल ही दूसरी सब योनियों में सब लोकों में भोगना पड़ता है।

इसका यह भी निष्कर्ष है, कि मनुष्य के मरने पर उसके लिए कोई एक ही प्रारब्ध आगे तभी बनेगा, जब उसे मनुष्य-जन्म ही प्राप्त होना हो। अन्यथा प्रारब्धों की एक शृंखला बनेगी जो अन्तिम बार वहाँ समाप्त होगी, जहाँ मनुष्य जन्म देने वाला प्रारब्ध बनता हो।

मनुष्य जन्म देने वाला प्रारब्ध अर्थात् ऐसा प्रारब्ध जो मनुष्य जन्म देकर कार्य करने का भी अवसर दें। मानव गर्भ में आकर गर्भपात या शिशु की अबोध दशा में मरण के प्रारब्ध तो भोगयोनि के ही प्रारब्ध हैं। वे कहीं मध्य में भी आ सकते हैं।

मनुष्य मरकर मनुष्य ही होगा यह भ्रान्त धारणा है। आम के बीज से आम ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार मनुष्य की सन्तान मनुष्य ही होगी; किन्तु आम सड़कर क्या बनेगा? जीव तो स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु नहीं है। अतः मनुष्य मरकर कर्मानुसार कुछ भी बन सकता है।

अगला जन्म क्या होगा ? यह इस पर निर्भर है कि अन्तिम संस्कार क्या है, मरते समय मूर्च्छित होने से पूर्व जो अन्तिम संस्कार है उसकी पूर्ति आवश्यक है। अतः उसे पूरा करने वाला जन्म पहले होगा। उससे समन्वय करती प्रारब्ध की शृंखला बनेगी।

★

★

★

इसका एक अर्थ है कि विद्या दान करने वाले विद्याध्ययन के लिए उत्सुकता लेकर मरने वाले तथा साधन भजन में लगे व्यक्ति के लिए पुनः मनुष्य होने की सम्भावना बहुत अधिक है। क्योंकि विद्या तथा भजन दूसरी योनियों में सम्भव नहीं।

★

★

★

अनेक बार पाप प्रलोभन जनक होता है। असत्य तथा अधर्म से धन, भोग, सम्मान मिलता दीखता है; किन्तु उसके साथ रोग, चिन्ता, अशान्ति अवश्य आती है। अधर्म परिणामतः दुःखद ही होता है।

★

★

★

अनेक बार धर्माचरण दरिद्रता एवं भोग-हीनता का, पद से वञ्चित करने वाला लगता है। सत्याचरण धर्माचरण की कसौटी होती है; किन्तु दुःखद लगने वाले समय में भी निश्चिन्तता, निर्भयता, शान्ति तो धर्माचरण के साथ ही रहते हैं। अन्त में विजय धर्म की ही होती है। धर्म पर स्थिर रहने पर धर्म अवश्य रक्षा करता है।

विवेक-बिन्दु : 13

ज्योतिष के अनुसार भी जब जातक की कुण्डली बनती है, उसके धर्मात्मा या पापात्मा होने का निर्णय ज्ञात हो जाता है। उसका स्वभाव-कर्म ग्रह स्थिति के अनुसार होते हैं। अतः कर्म के कर्तृत्व का दायित्व उसका नहीं है। यह दायित्व तो वह स्वयं को कर्ता मानकर लेता है।

★

★

★

यह मान्यता है कि कर्तृत्वाभिमान जीव को जन्म-मरण के चक्र में भटकाता है तो अपने को नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंस्कृत मानने की मान्यता

अथवा अपने को सर्व-सञ्चालक का निज जन होने की मान्यता केवल कल्पना कैसे हो जायगी ? यह मान्यता तो वस्तु सत्य है। अतः यह जीव को मुक्त करने वाली है।

★

★

★

सब साधन कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के लिए हैं। कर्तृत्वाभिमान निवृत्त नहीं हो सकता, यदि देह में मैं-मेरापन बना रहता है। अतः साधनों का सार—परम साफल्य इसी में हैं कि परिच्छिन्न देह में ममत्व का—आसक्ति का सर्वथा उन्मूलन हो जाय।

विवेक-बिन्दु : 14

जीवन में भक्ति आकर दो काम करती है। मेरे को भगवान का बनाती है। और मैं को ढीला करती है। 'मेरे' के रूप में भगवान् ही रहते हैं, अन्य नहीं। जब सब भगवान् का है तो 'मैं' भी भगवान का। "अहंता कैसी" ?

★

★

★

अनेक मंदिरों में दर्शन, परिक्रमा के लिये टाट या वस्त्र के पैतावे मिलते हैं। दर्शन करके पैतावे उतार दिये जाते हैं। यह शरीर भी पैतावा है उसे पहनकर भगवान की सेवा-पूजा कर लो और फिर उसे उतार दो। जिसने दिया है उसे वापस करना होगा। इसे 'मैं' मेरा कहकर रख नहीं सकते।

मधु-बिन्दु : 1

एक सिद्ध ने नेत्र कड़े किये। उनकी उपेक्षा हो गयी थी। मैंने देखा, वे विनय से प्रसन्न नहीं हो रहे हैं। बिगड़कर बोले—'तू मुझे जानता नहीं है।'

'जानता हूँ।' मैंने स्थिर स्वर में कहा—'तुम चाहो तो इस देह की हानि कर सकते हो; किन्तु देह सदा नहीं रहेगा। तुम इसे खा जाना चाहो तो खा लो; किन्तु तब तुम साधु नहीं रहोगे। तब तुम शृगाल, गीध की श्रेणी में खड़े होगे।'

वे साधु थे। उनके नेत्र भर आये और उन्होंने क्षमा माँगना प्रारम्भ किया।

★

★

★

नदी में बाढ़ आयी। बहुत मैले जल में मछलियाँ व्याकुल होकर मरने लगीं। दया-परवश एक ने थोड़ी मछलियाँ हौज के जल में लाकर डाल दीं; किन्तु एक छोटी थैलीभर मुरमुरे भी डाल दिये हौज में मछलियों को आहार के लिए। मछलियों ने मुरमुरे खाये और अधिक अन्न खा लेने के कारण चार-पाँच घण्टों में ही मर गयीं।

उपकार करने के लिए भी आवश्यक जानकारी तथा समझ होनी चाहिए, अन्यथा उपकार का प्रयत्न हानि भी पहुँचा सकता है।

★ ★ ★

‘तुम मुझे क्या समझते हो?’ एक अपने को अवतार कहलाने वाले साधु ने मुझसे अपने सम्पन्न भक्तों के बीच में पूछा।

‘परमात्मा’ मैंने कहा—‘जब मेरी बुद्धि और विवेक ठीक रहता है तब और जब ठीक नहीं रहता, भ्रान्तिवश तो कोई कुछ भी समझ सकता है।’

‘तुम लोगों ने सुन लिया?’ उन्होंने अपने भक्तों से सगर्व कहा।

‘लेकिन परमात्मा तो वह सामने चरता गधा, वह सुअर, ये मक्खियाँ और ये सब लोग हैं।’ मैंने फिर कहा—‘परमात्मा होना नहीं पड़ता। सब परमात्मा हैं ही। होना पड़ता है महात्मा और महात्मा होना बहुत कठिन है।’

‘क्या मतलब?’ वे रुष्ट हो गये। उनका स्वर रूक्ष हो गया।

‘व्यक्तित्व को बनाये रखकर कोई महात्मा नहीं हुआ करता।’ मैंने नम्रतापूर्वक कहा—‘देहासक्ति का समूलोन्मूलन, व्यक्तित्व का सम्पूर्ण बलिदान महात्मा बनाता है। वह सम्यक् आचरण, सम्यक् संबोध, सम्यक् समाधि के बिना सम्भव नहीं है। उसमें देह या नाम के सम्मान की गन्ध भी नहीं है।’

मधु-बिन्दु : 2

‘आप किसी सच्चे महात्मा को जानते हैं?’ मुझसे प्रायः पूछा जाता है। ‘आप कैसे समझेंगे कि कोई महापुरुष है?’ मुझे प्रायः प्रतिप्रश्न करना पड़ता है।

‘मैं विवश हूँ—मैं जानता हूँ कि सबके लिए कोई एक महापुरुष उपयोगी

नहीं है अर्थात् सबके लिए कोई एक महापुरुष—महापुरुष नहीं है।’

सबकी महापुरुष के सम्बन्ध की धारणा एक नहीं है और जो रत्न-पारखी नहीं हो गया, उसके हाथ में यदि मैं हीरा दे सकता हूँ तो दूसरा काँच भी तो हीरा कहकर दे सकता है। उसकी भ्रान्ति कैसे मिटेगी?

★ ★ ★

‘भगवान् का दर्शन करा दीजिये!’ एक ने आग्रह किया।

‘भगवान् तुम्हारे सम्मुख आ जावें तो तुम उन्हें पहिचान लोगे?’ सन्त ने कहा—‘कैसे जानोगे कि मैंने तुम्हें धोखा नहीं दिया?’

‘धोखा?’ प्रश्नकर्ता चौंके।

‘नारायण! धोखा बहुत दिया जा सकता है और दिया जाता है।’ सन्त ने कहा—‘आप जिस रूप को भगवान् मानते हो, वह रूप भूत-प्रेत, देवता धारण कर सकते हैं। उस रूप को मन का सङ्कल्प निर्मित करके दिखा दे सकता है। तुमने पढ़ा है रामायण में कि श्रीराम की उपस्थिति में रावण ने अनेक राम प्रकट कर दिये और हनुमान जैसे भक्त भी उन कृत्रिम रूपों के विषय में संदिग्ध हो उठे।’

★ ★ ★

‘आप मुझ पर कृपा कीजिये! एक सज्जन एक फक्कड़ के पीछे ही पड़ गये थे।

‘भगवान् मर गया या निष्ठुर हो गया?’ फक्कड़ने डाँटा।

‘वे मेरी नहीं सुनते।’ उन सज्जन ने कहा।

‘वह सर्वज्ञ नहीं रहा, बधिर हो गया?’ फक्कड़ हँसे—‘तब ऐसे भगवान् का पिण्ड छोड़ों!’

‘आप.....’ वे वुछ कहने जा रहे थे।

‘सुनो जी!’ फक्कड़ने डाँटा—‘जो तुम्हारे हृदय में ही रहता है, वह जब तक तुम्हें इस योग्य नहीं समझता कि तुम्हारी सुनी जाय, तब तक कुछ नहीं होने का। तुम पहिले अपने को योग्य बनाने की चिन्ता करो।’

मधु-बिन्दु : 3

एक योगसिद्ध संत ने सुनाया कि एक स्थान पर वे घूमते पहुँचे तो वहाँ निर्जन में एक प्रेत दिन में ही प्रकट हुआ। उसने तंग करने का प्रयत्न किया। उसको दूर करने के लिए उन्हें योग शक्ति का आश्रय लेना पड़ा।

‘प्रेत संतों को भी तंग कर लेते हैं?’ मैंने पूछा।

‘संत सदा संत कहाँ है?’ वे हँसे—‘सबके सूक्ष्म शरीर साधारणतः समान ही स्थिति में रहते हैं। साधु भी जब शरीर की चिन्ता में होता है, प्रेत उससे शक्तिशाली हो सकता है क्योंकि उसमें स्थूल देह से अधिक शक्ति है।’

‘आपके स्थान पर कोई सीधा सादा भजन करने वाला होता तो....।’ मैं आशंकाग्रस्त हो उठा था।

‘तो प्रेत उसके सामने आने का साहस ही नहीं सकता।’ उन्होंने मुझे बीच में रोका।

‘क्यों?’ मैं चकित हुआ।

‘गुण्डे कभी-कभी अपने से बलवान को भी धमकाते हैं। उन पर भी आक्रमण कर देते हैं।’ वे बोले—‘किन्तु जिलाधीश के शिशु को डराने का भी साहस नहीं करते। प्रेत इतना मूर्ख नहीं हो सकता। वह जानता है कि भक्त का रक्षक सर्वलोकेश्वर है। भक्त न डरे तो कुशल; किन्तु कहीं डर ही गया तो उसका संरक्षक डराने वाले को क्षमा करना नहीं जानता।’

मधु-बिन्दु : 4

एक युवक कई दिनों से वृद्ध साधु के समीप आकर हठ कर रहा था—‘मेरा मन नहीं लगता। कोई साधन बतलाइये। कोई उपाय कीजिये।’

‘मैं वृद्ध हो गया। मेरी इच्छा कुटिया बनाने की है।’ साधु ने एक दिन कहा—‘तुम थोड़ी-सी भूमि मुझे दे दो।’

‘मेरे पास भूमि नहीं है।’ युवक ने नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—‘मैं अपनी शक्ति के अनुसार आर्थिक सहायता करूँगा।’

‘उससे माँग लो।’ साधु ने मार्ग से जाते भिखारी की ओर संकेत किया।

‘वह तो भिखारी है। उसके पास झोंपड़ी भी नहीं होगी।’ युवक ने कहा—‘वह भूमि कैसे देगा।’

‘जिसके पास जो नहीं है, उस वस्तु को वह नहीं दे सकता। उससे उस वस्तु की आशा नहीं करनी चाहिए, तुम यही तो कहते हो?’ साधु ने पूछा।

‘जी!’ युवक ने स्वीकार किया।

‘मन तुम्हारे वश में नहीं है तो तुम उसे परमात्मा को दोगे, यह आशा तुमसे वह सर्वज्ञ करता होगा?’

अब साधु ने समझाया—‘अतः तुम मन लगने की चिन्ता छोड़ दो। तुम्हारे पास जैसे मुझे देने को कुछ धन है, उसे मुझे देने को तुम उद्यत हो, इसी प्रकार शरीर तथा जीभ तुम्हारे वश में है। इनको ईश्वर के भजन में—सेवा में लगाओ। उस दयामय को प्रसन्न करने के लिए यह पर्याप्त है कि तुम्हारे पास—तुम्हारे वश में जो है, उसे लेकर तुम उसके सम्मुख उपस्थित हो।’



करुणानिधि महात्मा बुद्ध वैशाली के सुप्रसिद्ध श्रीपाल नगर में प्रवचन कर रहे थे। एक जिज्ञासु ने प्रश्न करते हुए कहा—“प्रभो! आपके उपदेशों पर अमल कम लोग करते हैं, लेकिन आप फिर भी निराश नहीं होते। ऐसा क्यों है?” तथागत ने सहज भाव से समझाया, ‘वत्स! सुधारक का कर्तव्य सन्मार्ग की प्रेरणा देना है, लेकिन सफलता का मूल्यांकन करना नहीं। जिन्हें सफलता की कामना होती है, वे वास्तविक सुधारक नहीं होते।’

खण्ड-3 : भावराज्य

भावराज्य-1 (होगा क्या?)

प्राणों की ठेस बुरी होती है।

भय का सीमा को पार कर जाना साहस हो जाता है और कष्ट का अपने आयत का अतिक्रमण कर जाना दवा हो जाना है।

पता नहीं फिर क्या होगा ?

शब्दों के जाल से दूर—स्पष्टतः बता दूँ कि मेरे व्यथित अन्तर का विकल विद्रोह तुम्हारे लिए अच्छा नहीं होगा।

मिट जाना भी मिट्टी में एक अर्थ रखता है।

क्या पाओगे अपनी शुभ्र यशज्योत्सना को कलङ्क की कालिमा से कलुषित करके ? इसके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम होने का नहीं। परिपाक की प्रतीक्षा प्रिय नहीं होगी।

मैं भी तुम्हारे छूछे जग का एक सीकर हूँ।

कम-से-कम बुझता हुआ यह दीप एक धुयेँ की क्षीण रेखा छोड़ जायगा और वह तुम्हारे उज्ज्वल अंचल में एक अमिट छाप लगा देगी। विश्व की कोई शक्ति इसका प्रतिवाद या प्रतिरोध कर नहीं सकती।

विश्व मेरे प्राणों में स्पन्दित होता है।

विश्व तुम्हारा है—यह जितना शुभ्र सत्य है, उतना ही यह भी कि वह मेरी कल्पना की क्रीड़ी में पलता है। उसे मेरा अनुमोदन करना होगा।

जीवन का गुरुवार उसके सिर भी तो है।

सोचने में तुम समर्थ हो—चाहे जो सोच सकते हो। पर इतना स्मरण रहना चाहिए कि व्यथा की कसक सूनी नहीं लौटती। तुम उसे शांत कर सकते हो किंतु वह श्रान्त नहीं होती।

फिर सोचना चाहो तो सोचो।

★

★

★

मेरा भला क्या हो सकता है ?

तुम्हारे इस जगत् ने मुझे सम्मान दिया ही कब था ? जो सदा का तिरस्कृत

है, दलित है, त्यक्त है, उसका कोई क्या अपमान करेगा ? उसका त्याग और तिरस्कार करने को उसके पास रहा क्या ?

मुझे और अपमान का भय!!

कोई अप्रसन्न होता हो तो हो जाये। जिसे प्रसन्न होना है वह भी अपनी प्रसन्नता अपने समीप ही रखे। मुझे प्रसन्न होकर इस सुनहले सर्प ने दिया क्या ? बन्धन, विष और मृत्यु।

इस विषैले प्यार से विधाता बचावें।

लोग हँसेंगे, घृणा करेंगे, निन्दा करेंगे ?

भैया ! उन लोगों ने अब तक किया क्या है ? मेरे साथ क्या उसका यह नवीन व्यवहार होगा ? उनकी स्वार्थभरी प्रशंसा के गीतों से कर्णकुहर पक चुके हैं। मैं उनकी लुभावनी लहर में लुट चुका हूँ।

उनके लिए लग करके अब यहाँ तक तो गिरा !

एक बात होगी—तुम मानो या न मानो, पर लोग तुम्हारे लिए भी हँसेंगे। वे मेरी नहीं—तुम्हारी हँसी करेंगे। तुम्हारा विपुल विश्वास तरल धारा में तूल-सा बह जावेगा। कोई मानना भी न चाहेगा तुमको !

‘तुम भी एक आश्रित को न उबार सके !’

यही कराना चाहते हो तो बड़ी प्रसन्नता।

तुम मुझे व्यर्थ में भीति की छाया से भ्रान्त करना चाहते हो। भला मेरा अब और होगा क्या ? हाँ—तुम अपने को देख सको तो देखो—फिर एक बार देखो।

परिणाम पर पहुँचने से पूर्व पुनः देखो।

★

★

★

कुछ हाथ नहीं आवेगा !

मेरी उपेक्षा तुम नहीं कर सकते। मुझसे दूर चेष्टा करके भी नहीं रह सकते। रूठने और मनाने का कोई प्रश्न नहीं। मुझे तो अपने पास लेना होगा। न लेना चाहो तो भी।

बेबात का अयश क्यों लेते हो ?

इस उपेक्षा की उत्पत्ति इतनी ही है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

प्रज्ज्वलित प्रणय में प्राणों की आहुति तुम्हारे दिव्य प्रकाश में लय होकर रहेगी। कोई भी प्रयास उसे आलोक में पहुँचने से पीछे नहीं ठेल सकता। यह

सब आनाकानी धरी रह जावेगी इस उज्ज्वल बलिदान के सम्मुख।

कभी बाँध ने भी सागर को बाँधा है?

इस क्षितिज की अन्ध यवनिका को चीरकर निःश्वासों की ज्वाला में लीन अन्तर तुम्हारे श्रीचरणों तक पहुँच जायगा। माया की ममता का यह तुन्दिल बन्धन उसे बाँधने में समर्थ नहीं।

अस्वीकार कर सकोगे तब?

बिन्दु को उठाकर सागर ने पृथक फेंक दिया फिर ?.....

रवि की रश्मियों में अपनी आहुति देकर जब वह सरिता के उत्तुङ्ग प्रवाह के रूप में उछला हुआ आया.....

क्यों, सिर झुकाकर अङ्क में लेना पड़ा न ?

जानते हो—अतृप्त क्षुद्रता का बलिदान दूसरे शब्दों में अनन्त कहा जाता है। विराट् का इतना ही वास्तविक अर्थ है।

तब मुझे यही करना होगा! तुम्हें कोरा अपयश लेने से क्या लाभ? इससे होगा क्या?

★

★

★

तुम इन उलझनों में नहीं पड़ना चाहते ?

मत पड़ो—सत्य कहने वाला प्रिय किसे लगता है। विशेषकर तुम्हें क्यों ये खरी बातें अच्छी लगती? तुम्हें तो सूनी स्तुतियाँ सुनना अच्छ लगेंगी। सजे-सजाये शब्दों में सुहावने ढङ्ग से।

यह मुझसे होने से रहा।

वास्तविकता से दूर—इन सरल स्तोताओं को स्वार्थियों ने बहुत दूर वास्तविकता से डाल दिया। ये सोचते हैं तुम इतने सुलभ और सुशील हो। सुगमता से पाने की सम्भावना ने इनके सच्चे विचार को सुला दिया।

उनमें भी कुछ-मुझ-से निकलेंगे।

ठोकरें लगने पर सभी को सूझता है। अन्त में वे भी अपनी भूल समझ लेंगे। आडम्बर में सत्य छिपा थोड़े रहता है।

तब क्या होगा?

मेरा उद्दीप्त उदाहरण तुम्हारे लिए अच्छा होगा?

प्रार्थना सुनकर मान लेने में कोई हानि तो प्रतीत नहीं होती। आर्द्र अश्रुओं

को अपनाकर तुम्हारी दिव्यता उनमें और चौगुनी चमक उठेगी। गीले उद्गारों का उपहार तुम्हें शैत्य प्रदान कर सुख पहुँचाने की सामग्री बनेगा।

अन्त में भी आहुति की अग्नि यह करा देगी।

यह मानकी रिक्त ममता किसलिए फिर तुमने अपनायी है? इस रूठ और रार से तड़पाने में कौन-सी तृप्ति का तुम अनुभव करते हो? किस आधार पर यह है उपेक्षा की उल्लसित उमङ्ग?

सोचो—इससे होगा क्या?

भावराज्य-2 (दाऊ का उपहार)

‘मैया! मैं कनू को कल क्या दूँ?’ आज भाद्र कृष्ण अष्टमी है। ब्रज में श्याम सुन्दर की वर्षगाँठ तो नवमी को मनायी जाती है। कल कन्हाई को सब अपने उपहार देंगे। बड़े गोपों ने, गोपियों ने और किशोरों ने भी महीनों पहले से आयोजन प्रारम्भ कर दिया है। अपने उपहारों की वस्तुएँ सोचने, सँजोने में ही इधर उनका अधिकांश समय गया है। ‘कृष्ण क्या पाकर प्रसन्न होगा’—ब्रज के जन-जन की निद्रित पलकें निशीथ में भी आजकल यही स्वप्न देखती रही हैं। लेकिन यह दाऊ है न? इसे सोचने और आयोजन करने से जैसे चिढ़ है। यह तो जो करना हो उसे समय पर ही करेगा। इसका सोचना और करना साथ-साथ चलता है। कल कन्हाई की वर्षगाँठ है। आज सायंकाल अपने उपहार सजाकर रख देना चाहता है। गोचारण से लौटते ही यह मैया यशोदा की गोद में जा बैठा है और अपना उपहार निश्चित कर लेना चाहता है।

‘तुम जो चाहे दे दो!’ मैया को तो जैसे आज त्रिलोकी का साम्राज्य इसी क्षण मिला है। उसका स्वर गद्गद् हो उठा है। कृष्ण का माँगना, रूठना, मचलना तो सहज स्वभाव है। किन्तु दाऊ कुछ कभी माँगे—मैया की जैसे जन्म-जन्म की लालसा सफल हो गई है। वैसे तो दाऊ के लिए कुछ माँगने पूछने की आवश्यकता कभी ब्रज में किसी घर में होगी, यह कल्पना ही मूर्खता है, ब्रज उसी का तो है—और नन्द-भवन—लेकिन यह गुमसुम प्रायः रहने वाला नीलाम्बरधारी स्वर्ण गौर—आज इसने कुछ मुँह खोलकर माँगा तो। मैया ने उल्लसित होकर अपने कण्ठ का रत्नहार निकाला—‘तुम इसे हार को दे दो अपने छोटे भाई को!’

‘कनूँ इसे लेकर प्रसन्न होगा?’ दाऊ ने एक क्षण सिर झुकाकर सोचा उसने हार छुआ ही नहीं। ‘तू इसे पहन ले!’ मैया की गोद से अपनी धुन में वह उठ खड़ा हुआ।

‘तुम जो दोगे उसी से तुम्हारा छोटा भाई प्रसन्न हो जायगा!’ मैया हँस पड़ी। दाऊ एक नन्हा पुष्प उठाकर श्याम की अलकों में लगा दे तो वह नाच उठेगा प्रसन्नता से। अपने अग्रज की मुट्ठी से पड़ी कन्धे पर की धूलि से तो वह तब खिल-खिला उठता था, जब उसे बोलना तक नहीं आता था। दाऊ कुछ देगा और कनूँ उससे प्रसन्न नहीं होगा—लेकिन आज दाऊ को कुछ अद्भुत धुन है। मैया की बात पर ध्यान देने का उसके पास समय नहीं। कल उसके छोटे भाई का जन्म दिन है। ऐसा क्या दें वह उपहार में अपने अनुज को जिससे सचमुच श्याम खिल उठे? दाऊ व्यस्त हो उठा है। वह मैया के पास से दौड़ गया है।

‘कनूँ इसे लेकर प्रसन्न होगा?’ बड़ा विकट प्रश्न है। आज दाऊ का हृदय कहीं ‘हाँ’ नहीं कर रहा है। उसने वस्त्रागार के वस्त्रों का अम्बार उलट-पुलट कर दिया, रत्न-राशि बिखेर मारी, अश्वों पर दृष्टि डाल ली और अब गो-दोहन के दो घड़ी पीछे गौशाला में आ खड़ा हुआ है।

‘कोई गाय? कोई चपल बछड़ा? कोई उत्तुङ्ग वृषभ?’ यह मत पूछिये कि ये सब तो कन्हाई के ही हैं, फिर उन्हें देने का क्या अर्थ? ब्रज में और विश्व में ही कन्हाई का क्या नहीं है? कन्हाई को कोई दूसरे की वस्तु कहाँ से देगा। अनादिकाल से ‘त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पयेत’ का क्रम चल रहा है। कन्हाई है ही ऐसा देवता। उसे प्रसन्नता ही होती है इससे कि कोई उसी का पटुका, उसी का लकुट, उसी की वनमाला, उसी की कोई वस्तु हाथ में लेकर कहे—‘कनूँ’ यह तेरा उपहार! तू इसे लेगा?’ कन्हाई तो नाच उठेगा हर्ष से। वह कभी नहीं पहिचान पाता—कभी पहिचानना नहीं चाहता कि वह वस्तु उसी की है। फिर ब्रज में दाऊ और कृष्ण का बैठा क्या है। लेकिन दाऊ का मन कहीं हाँ, जो नहीं कहता। वह चार घड़ी से व्यस्त है और कोई उपहार चुन नहीं सका।

‘कनूँ! कल तू क्या लेगा?’ यह भी एक पद्धति तो है। माता रोहिणी व्यग्र हो रही हैं, मैया पुकार कर थकी जा रही हैं, बाबा कई बार पुचकार कर अनुरोध कर चुके और यह कन्हाई भी भूखा है। दाऊ भोजन न करे तो

उसका अनुज भोजन करने से रहा। अब अधिक देर तक भोजन करना टाला नहीं जा सकता। उपहार नहीं मिला; नहीं जँचता। अब दाऊ ने छोटे भाई से पूछना निश्चित किया है।

‘मैं—मैं क्या लूँगा?’ कन्हाई ने बड़े आनन्द से बड़े भाई के मुख की ओर देखा और अपनी दोनों भुजाएँ डाल दीं अग्रज के कण्ठ में—‘मैं तुझे लूँगा!’

‘तू ऐसा ही है!’ दाऊ हँस पड़ा। यह भी कोई बात है। दाऊ कनूँ-का है कब नहीं कि कनूँ उसे लेगा। लेकिन यह श्याम सुन्दर भूखा है। अब इसे भोजन करना चाहिये। छोटे भाई का हाथ पकड़ा उसने—‘अच्छा चल, भोजन कर लें। सबेरे मैं अपना उपहार ढूँँगा!’

बहुत देर तक किसी उलझन में पड़े रहना दाऊ के स्वभाव से बाहर की बात है। अब वह भोजन करेगा अपने अनुज के साथ और सो जायेगा। उपहार तो कल देना है न, कल उसकी चिन्ता वह कर लेगा।

कंस क्रूर है अत्याचारी है और उसके अनुचर यह तो एक शाश्वत नियम है कि सत्पथ पर कोई समर्थ चले तो उसके अनुगत भी उस ओर चलने का प्रयत्न करते हैं। यदि स्वामी प्राण-प्रण से धर्म का पालन करे तो सेवक भी कुछ न कुछ धर्माचरण करते ही हैं, किन्तु यदि अधीश्वर अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न के कुपथ पर चले—उसके अनुचर उस मार्ग पर दौड़ लगाने लगते हैं। स्वामी किसी को अर्थ-दण्ड देने को कहे तो सेवक लात-घूँसों से पूजा भी कर आते हैं। कंस के अनुचर तो राक्षस हैं। उनके अत्याचार की कहीं कोई सीमा नहीं।

क्रूर कंस अपने पिता महाराज उग्रसेन को बन्दीगृह में डालकर मथुरा का अधिपति बन बैठा है। वह जन्म का दुर्दम—वसुदेवजी की आकाश में उड़ जाने वाली कन्या ने जबसे उसे बताया कि उसको मारने वाला कहीं उत्पन्न हो गया है, तभी से वह जैसे पागल हो उठा है। उसका मारने वाला—अब यह बात कुछ बहुत सोचने समझने की नहीं है। क्या यह भी बताना होगा कि उसके लोक विजयी महाभट कहाँ जाकर फिर मथुरा नहीं लौटते? किस सुकुमार करों की क्रीड़ा कंस के असुरों की कपाल-क्रिया करती रहती हैं, यह तो मथुरा का बच्चा भी जानता है, लेकिन कहावत है न ‘ठोकर लगै पहाड़ पर फोड़ें घर की सिल’ ब्रज पर बस नहीं चलता तो असुरों ने दूरस्थ गोपों के ग्रामों पर अपना क्रोध उतारना प्रारम्भ कर दिया है।

लगभग दस वर्ष का दुबला, गोरा सुन्दर गोपकुमार—बेचारे की कछनी भी काँटों में उलझकर फट गई है। शरीर में स्थान-स्थान पर खरोंचे आयी हैं। विपत्ति का मारा बालक—विकल कमल जैसे पाले से कुम्हला गया हो। धूलि से जरा शरीर कपोलों पर आँसू की रेखाएँ सूख गई हैं। नेत्र लाल हो रहे हैं, पलकें जल उठी हैं और पैरों में कितने काँटे चुभे और टूटे बालक के मन में यह बात ही नहीं आती। तनिक आहत होती है और वह चौंक पड़ता है—‘असुर तो नहीं आये!’

दस वर्ष का बालक—अपने गाँव से बाहर भी नहीं निकला वह। घोर-अन्धकार, मेधाच्छन्न-गगन और वन का बीहड़ पथ, लेकिन आज वन पशुओं की अपेक्षा उसे मनुष्यों से अधिक भय लगता है। कहाँ जा रहा है वह? जिस वन में अपना हाथ तक नहीं सूझता, उसमें वह कहाँ जायेगा—कहीं जाना है। दूर—कहीं दूर निकल जाना है, कहीं जाना भी है, यह तो सबेरा होने पर सोचने की बात है।

कंस के राक्षसों ने सन्ध्या के समय ग्राम को घेर कर अग्नि लगा दी। उन पिशाचों का वह अट्टहास। बेचारा बालक वन से गायें चरा कर लौट रहा था। लपटें, चीत्कार असुरों का अट्टहास—उसे नहीं पता गायों का क्या हुआ और साथी कहाँ गये। वन की ओर क्या वह अपनी चेतना में भागा था? रात्रि का अन्धकार फैलने पर वह फिर लौटा था। क्या था वहाँ लौटने को! पूरा गाँव धू-धू करके जल रहा था। भस्म होते शरीरों की दुर्गन्धि ने वायु को श्वास लेने योग्य भी नहीं रखा था। उसका घर, उसके माता-पिता...बेचारा बालक मूर्छित होकर गिर पड़ा था।

‘गायें भाग गईं? साथी भाग गये?’ बालक की चेतना ने कहा। ‘भगवान करें वे आगे ही हों। उनके प्राण बच जायँ’ चारों ओर घोर अन्धकार फैला था और बालक को लगता था कि कंस के पिशाच उसे पकड़ने फिर आ रहे हैं। वह भी भागा—वन में भागा और भागता चला गया। गिरता-पड़ता, ठोकरें खाता, काँटों और लताओं में उलझता वह भागता रहा। अब भागने की शक्ति नहीं है, इसीलिये चल रहा है। कोई भला कितनी देर दौड़ सकता है।

‘ब्रज—ब्रज जायेगा!’ ब्रजराज नन्दजी की उदारता का वर्णन करते उसके पिता थकते नहीं थे। ब्रज की सुन्दरता का वर्णन उसके गाँव के सभी

गोप करते थे। कितनी उत्कट लालसा थी उसके मन में नन्दगाँव देखने की, सबेरा हो जाय तो वह किसी से वहाँ का मार्ग पूछे। सुना है ब्रजराज के पास करोड़ों गायें हैं, वे उसे अपना ग्वारिया अवश्य बना लेंगे।

श्रांति—नन्हा बालक लगभग पूरी रात्रि भटका है वन में। थक कर उसका शरीर चूर-चूर हो रहा है। प्राण का भय—वे पिशाच—उनका अट्टहास—उसे लगता है कि कंस के क्रूर राक्षस उसे पकड़ने दौड़े आ रहे हैं। वह कहीं दो क्षण को रुक नहीं पाता। लेकिन यह अचानक क्या हो गया! उसकी श्रांति, उसका भय, उसकी व्याकुलता—उसके मन और शरीर में यह अद्भुत परिवर्तन क्यों हो रहा है? उसे तो अब थकावट जान ही नहीं पड़ती।

‘मैं कहाँ आ गया?’ प्रातःकालीन झुटपुट प्रकाश में उसने जो कुछ देखा—देखता रह गया। इतने सुन्दर वृक्ष, इतनी सुन्दर लताएँ—वह भी तो गोप कुमार है, वन में वह भी तो घूमा है—इतने सुरभित पुष्प, इतने सुरम्य फल और क्या यहाँ की लताएँ पुष्पों से ही बनी हैं? यहाँ के वृक्षों के क्या पत्ते भी फल देते हैं? वन इतना सुन्दर होता है? ये वन पशु तो उसे देखकर चौंकते तक नहीं। मृग का यह शावक उसे सूँघने ही आ गया—कहाँ आ गया वह!

वह दौड़ता, उछलता और नाचता—यह दिव्य भूमि, किन्तु उसका ग्राम उसके माता-पिता, वे असुर उसके नेत्रों से धाराएँ चलने लगीं। वह फूट-फूट कर रोने लगा।

‘यह क्या स्वर्ग है! स्वर्ग तो ऊपर आकाश में हैं!’ प्रकाश फैला और दूर जो कुछ दिखाई पड़ा—बालक जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। उसने देवताओं के स्वर्ग की बात बहुत सुनी है। लेकिन स्वर्ग में कोई इस प्रकार चलकर पहुँच सकता है, यह क्या मानने की बात है? यह जो नगर उसे दीख रहा है—पृथ्वी पर ऐसा वन और ऐसे नगर भी होते हैं—यह तो विश्वास करने की बात ही नहीं है।

‘स्वर्ग-स्वर्ग ही है यह!’ गोप कुमार के नेत्र जैसे स्थिर हो गये। वह सूखे काष्ठ की भाँति भूमि पर गिर पड़ा। नीलाम्बर वेष्टित रत्नाभरण भूषित ये ज्योतिर्मय देवता ही तो उसके पास दौड़े आ रहे हैं।

‘तू कौन है? उठ! चल मेरे साथ!’ उस किशोर देवता ने दोनों भुजाओं में भर लेना चाहा उसे।

‘मैं अनाथ हूँ! मेरा घर.....’ वह बोल नहीं पा रहा है। उसके नेत्र झर रहे हैं। देवता के श्रीचरण वह अपने अश्रुओं से ही धो देना चाहता है।

‘चल आ मेरे साथ!’ ‘देवता को उसका नाम नहीं जानना, परिचय और ग्राम भी नहीं जानना। देवता जब किसी पर कृपा करते हैं—परिचय कहाँ अपेक्षित होता है उन्हें। दयामय देवता—भला देवता से छिपा क्या रह सकता है।

उसका कण्ठ अवरुद्ध है। वह न बोल पाता, न सोच पाता। उसे तो जैसे ये दयामय देवता घसीटे लिये जा रहे हैं अपने साथ। ये देवता-देवता को छोड़कर यह रूप-राशि, यह अद्भुत तेज और यह अपार दया भला और किसी में कहाँ सम्भव है।

‘दादा! दादा! कहाँ गया दाऊ दादा!’ श्यामसुन्दर अपने बड़े भाई को पुकार रहा है और इधर से उधर ढूँढ़ रहा है। आज श्रीकृष्णचन्द्र की अद्भुत शोभा है। मैया ने उसका भरपूर शृङ्गार किया है। भाल पर महर्षि शाण्डिल्य ने कुंकुम का तिलक लगा दिया है और उस पर चार-पाँच अक्षत चिपके हैं। रत्नाभरण अंगकान्ति से नीलाभ बन गये हैं।

‘दादा!’ मोहन ने सभी गुरुजनों को प्राणिपात कर लिया है। महर्षि शाण्डिल्य बड़े सबेरे ही ऋषियों के साथ नन्द-भवन आ गये थे। हवन-देव पूजनादि कब का समाप्त हो चुका है। कन्हाई ने एक-एक विप्रों को विप्र-पत्नियों को वृद्ध-गोप एवं गोपियों को प्रणाम कर लिया है। तब वह अपने अग्रज की वन्दना करना चाहता है।

दाऊ!’ मैया यशोदा और माता रोहिणी व्यस्त हो गई हैं। यह दाऊ कहाँ चला गया? आज गोचारण के लिये तो उसे जाना नहीं है। वह तो कन्हाई के जन्म-नक्षत्र के दिन भी वन में नहीं जाता। तब गोपबालक तो यहीं हैं, फिर वह गया कहाँ?

‘दाऊ!’ बाबा द्वार से बाहर आकर पुकारने लगे हैं। यह गोप कहता है कि इसने अकेले दाऊ को अभी थोड़ी देर पहिले वन-सीमा की ओर जाते देखा है—वन सीमा की ओर? अकेले वह वन में क्यों गया?

‘उसे कोई उपहार नहीं मिला अपने छोटे भाई को देने के लिए!’ माता रोहिणी को सहसा स्मरण आया। ‘वन में वह उपहार ढूँढ़ने गया है!’

‘हे भगवान्!’ मैया यशोदा के अधरों पर स्मित आया, किन्तु दूसरे क्षण ही

वे चिन्तित हो उठीं—‘कब लौटेगा वह! कहाँ गया?’ दाऊ का क्या ठिकाना। वह अपनी धुन का एक ही है। अब उपहार लिये बिना वह लौटने से रहा और उसके मन का उपहार कब और कहाँ मिलेगा—कौन कह सकता है।

‘मैं दादा के पास जाऊँगा!’ कृष्णचन्द्र यह कहेगा, यह तो पहिले से निश्चित है। अपने अग्रज के बिना यह कन्हाई यहाँ टिकने से रहा। अब इससे कलेऊ करने को कहना व्यर्थ है। बड़े भाई के बिना यह भोजन के लिए बैठने से रहा। आज प्रातः से पूजनादि में लगे रहने के कारण इसने न दूध पिया, न मक्खन खाया और अब यह वन-वन पता नहीं कहाँ भटकेगा—भटकेगा ही—इसे रोका नहीं जा सकता—दाऊ यहाँ नहीं है तो यह रुक भी कैसे सकता है।

‘दाऊ दादा आ रहा है! वह आ रहा है!’ नन्हा तोक घर से निकल गया था। वह दौड़ गया था ग्राम से बाहर की ओर दाऊ को देखने और अब दोनों हाथ हिलाते उछलते वह आया है—कितना सुन्दर सन्देश ले आया है वह।

‘कहाँ है दाऊ?’ मैया ने तोक को गोद में उठा लिया और वह स्वयं द्वार तक आ गई। मैया के साथ गोपियों का समूह आ गया द्वार तक।

‘वह आ रहा है! वह क्या एक लड़के को पकड़े लिये आ रहा है!’ तोक ने हाथ फैलाकर दिखाया और वह मैया की गोद से उतर पड़ा। उसे भी तो दाऊ दादा के पास दौड़ जाना है।

‘दादा!’ चरणों के नूपुर, कटि की मेखला झुनझुन कर रही है, मस्तक से कन्धों और पीठ तक धुधरारी अलकें फुदक रही हैं। वक्ष पर मुक्तामाल एवं वनमाला क्रीड़ा कर रही है। कन्हाई दौड़ा जा रहा है। यद्यपि दूसरे बालक भी उसके पीछे दौड़ रहे हैं, परन्तु वह सबके आगे—सबसे तीव्र गति से दौड़ा जा रहा है।

‘दादा! कहाँ चला गया था तू? मैं कब से तुझे ढूँढ़ रहा हूँ!’ निकट पहुँचते पहुँचते हँसते हुए कन्हाई ने उपालम्भ दिया। यह कोई बात है कि श्याम बड़े भाई को प्राणिपात करने को उत्सुक हो और यह दाऊ कहीं खिसक जाय!

‘उठ! अरे उठ तो!’ मार्ग की धूलि में मोहन अपने अग्रज के चरणों में मस्तक रखकर घुटनों के बल मुड़कर बैठ गया है। दाऊ झुककर दोनों हाथों उसे उठाना चाहता है, किन्तु वह तो उठने का नाम ही नहीं लेता। वह तो जैसे

प्रणाम करते झुका ही रहना चाहता है बड़े भाई के सामने।

‘देख मैं तेरे लिये कैसा उपहार लाया हूँ। लेगा इसे?’ दाऊ ने छोटे भाई को उठा लिया या उपहार का नाम सुनकर श्याम स्वयं उठ गया—कहना कठिन है। धूलि सनी अलकें नासिकाग्र, भाल और घुटने का पीताम्बर—वनमाला पर धूलि की अद्भुत छटा और भर लिया है अब दाऊ ने अपने छोटे भाई को अपनी दोनों भुजाओं में।

‘तू इसे सखा बनावेगा?’ दाऊ के पीछे ठिठका खड़ा बालक—वह बेचारा स्तम्भित है। समझ ही नहीं पाता कि इस देवताओं के नगर में वह कैसे आ गया और अब क्या करे?

‘दादा!’ कन्हाई ने बालक की ओर देखा—दीन बन्धु के लिए बन्धु जैसा उपहार भला उसके दादा को छोड़कर और कौन दे सकता है।

‘तू मेरे दादा का उपहार है!’ श्याम ने बालक का हाथ पकड़ा। अपना पटुका उसके कन्धे पर रख दिया। अपनी वनमाला और रत्नहार उसके कण्ठ में डाले और हाथ पकड़ा—उसका—‘चल आ मेरे साथ! अब यहाँ से भागना मती!’

‘दादा! श्याम बार-बार मुड़कर देखता है। कितना अच्छा है उसका दादा। कितना अनुपम है उसके दादा का उपहार।

भावराज्य-3 (मत आओ)

यदि सम्भव हो तो मत आओ माधव!

पुकारना मेरा काम है, मैं पुकारे बिना रह नहीं सकता। कलित ऋतुराज को दृष्टि पथ में पाकर कोकिल का स्वभाव हो जाता है कूकना। इसे आग्रह या अनुरोध नहीं कहा जा सकता।

मेरा यह स्वभाव है।

तुम पर कोई आभार नहीं, कोई उपकार नहीं। अतृप्त चातक सूने गगन की ओर भी देखता और टेर लगाता है। विशाल वारिधि की उमङ्ग उसे बाध्य करती है पूर्णचन्द्र की ओर उठने के लिए। वैसे इससे न कोई लाभ है और न आशा!

ऐसा ही कुछ मेरे सम्बन्ध में भी.....

तुम सुनोगे, तुम्हें दया आयेगी तुम कुछ आर्द्र होंगे, इसके लिए मैंने तुम्हें कभी पुकारा है? मुझे तुमसे ऐसी आशा ही नहीं। पर करूँ क्या—यह मेरा

स्वभाव बन गया है। इसके बिना रहा जाता नहीं।

तुम अपने मन की करते रहो।

यदि मैं तुम्हें पुकारता तुम्हारी दया के लिए, कृपा के लिए, तुम्हें बुलाने के लिए तो क्या तुम ऐसा करते? मिलती मुझे वह दया? पधारते तुम कभी इस दीन के दरिद्र अन्तर में?

मुझे आशा की एक किरण भी तो नहीं दीखती!

दीखे भी कैसे? तुमने कभी और किसी पुकारने वाले पर दया की है? किसी के आकुल अश्रुओं की अञ्जलि स्वीकार करने पधारे हो? किसी का मनोमुकुर मुकुलित हुआ है तुम्हारे पद प्रान्त के प्रकाश से?

मेरे लिए तुम नवीन बन जाओगे—कैसे मान लूँ!

★

★

★

मेरे कहने का तात्पर्य नहीं समझे।

मैं कब कहता हूँ कि तुम आते नहीं तुम आते हो और भली प्रकार आते हो। तुम्हारे आने को कोई अस्वीकार कर सकता है।

अपने बस में आते हो क्या?

तुम आते हो—खींच लिये जाते हो और वह नाच नचाये जाते हो कि तुम्हारी सर्वशक्तिमत्ता श्रान्त हो कहीं शयन करने मुचुकुन्द के समान गिरि-गुहा का अन्वेषण करने लगती है!

क्या दया कर आते हो तुम?

अच्छी दया है—रोते-रोते नेत्र सूज जाते हैं, जीवन जल जाता है, संसार श्मशान हो जाता है, पर वह दया द्रवित नहीं होती! किंतु एक अक्खड़ अकड़ जाता है ‘ऐसा होकर रहेगा—मैं या तुम’ तब सब नटखटपन हवा हो जाता है। पीछे-पीछे दौड़े घूमते हो!

भाई लज्जा बचाने के लिए दया बड़े काम की है।

कितनी दया थी—मारे बाणों के अङ्ग रक्त की छलनी बन गये तो प्रतिज्ञा की अन्त्येष्टि करके उस वृद्ध पितामह पर चक्र ले दौड़े! दया तो तब होती कि उसकी किरण दलित दोनों पर भी पड़ती।

अतः रहने दो अपनी दया—मुझे नहीं चाहिये।

मेरी पुकार पर दया करने की आवश्यकता नहीं। अग्नि पर कभी कृपा

मत करना! मैं भिखारी नहीं—मैं तुमसे कुछ दान नहीं चाहता जो तुम दया करोगे!

जो मेरे स्वत्व हैं उन्हें स्वतः ले लूँगा।
रोकना चाहो तो रोको—शक्ति भर मुझे उससे वंचित कर देखो।
चुनौती है एक दीन की दीनबन्धु!

★ ★ ★

मैं किसी का आभारी होना नहीं चाहता—तुम्हारा भी नहीं!
अपनी उदार कृपा अपने पास रखो।
मेरे यहाँ वह चाल नहीं चलने की। वहाँ कृपा की ओट में अपनी विवशता नहीं छिपा सकोगे।

प्रणयी प्राणों की आहुति है—छूछा पाखण्डी जग का प्यार नहीं।
मुझ पर उपकार करोगे यदि पधारोगे इस शुचि सुरभि से सौष्ठव का सुस्वाद लेने? तब अपना उपकार रहने दो और इन आतुर उत्कण्ठाओं की उपेक्षा कर दो।

निःसंकोच—बिना हिचकिचाहट के।
यह तो मेरा कार्य है, मैं अपने कर्तव्य को समझता हूँ, उसे पूर्ण करने का प्रखर प्रयास करूँगा। क्या हुआ यदि अब तक मुझे सफलता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं मिला। मैं हताश नहीं हूँ!!

अपनी शक्ति पर न सही—अपनी उज्ज्वल आहों पर मुझे विश्वास है।
कभी सफल न होऊँगा? मुझे समृद्धि का लोभ नहीं। युग-युग की इस उत्तुङ्ग असफलता का मैं स्वागत करता हूँ। बिना तनिक भी दहले—सदा सर्वदा की असफलता का अन्तर के असंख्य-असंख्य उद्गारों से स्वागत।

मेरा परिश्रम मेरे साथ रहे और उसकी क्षीणता का परिणाम सिर-माथे।
मुझे अपने आप भोगना है। किसी की कृपा से उससे त्राण पाने की न प्रतीक्षा है, इच्छा।

सहायता का शीकर भी अपेक्षित नहीं।
देखना है—जर्जर प्राण जीत का माल्य पाते या जय के गर्वीले तुम्हारे ये जीवित उद्गार।
दया को दूर रहने देकर परिणाम देखो!!

★ ★ ★

कोई नहीं रोक सकता विश्व की कोई भी शक्ति।
यह अविरल अश्रुधारा प्लावित होती रहेगी, निःश्वासों की यह तीखी निर्झारिणी और झूमती रहेंगी ये पगली वेदनाएँ प्राणों के प्रज्वलित झूलों पर।
जो जलता हो जल जाय—जो गिरता हो गिर जाय!
जीर्ण जीवन की क्या आसक्ति, सड़े संसार की क्या आवश्यकता।
अपने हाथों अपने विश्व को विदीर्ण करने में न वेदना है और न विकलता।
असफलता की ठोकरी से जो चूर होता हो उसे होने देने में मुझे कोई बाधा नहीं।
हृदय को हाथों में लेकर मसलते हुए मैं बढ़ता जाता हूँ।
मुझे देखना है—तुममे कितना सार है। तुम्हारी हठ की हद कहाँ तक है।
कब तक चलता है तुम्हारा यह महानता का मान!

तुम आओगे—दौड़े हुए आओगे।
उपकारी और महान् बनकर नहीं—विवश और समान बनकर तुम्हें आना पड़ेगा। एक दिन वह भी अवश्य आवेगा जब कङ्काल की करुण पुकार कृष्ण को भी कर्षित करने में समर्थ हो सकेगी।

उस स्वर्णिम दिन की मुझे पूरी आशा है।
क्या कहा—कल्पना है।
कल्पना सही—मैं कब कहता हूँ कि तुम इसे सत्य मान लो! मेरी कल्पना मेरे साथ और तुम्हारी सच्चाई तुम्हारे। मुझे यों ही तड़पने दो रोने दो पुकारने दो! सुनो मत, उपेक्षा कर दो!!
न आ सको तो—मत आओ!!

भावराज्य-4 (उस पार)

अनन्त नील क्षितिज पथ को रोके खड़ी है।
काल की कठोर काली यवनिका को उठाकर जीवन के उस पार क्या है, यह कैसे देखूँ?
उस पार—हाँ उस पार।
पता नहीं क्यों एक अज्ञात संकेत मेरी प्रत्येक क्रियाओं में छिपा रहता है।
जाने कौन कहाँ से उधर आकर्षित कर देता है और यहाँ की सब मादकता

हवा हो जाती है।

मैं बहुत चाहता हूँ कि उस पार की चिन्ता न करूँ।

अपने नन्हे से संसार में, अपनी भोली भावनाओं के विश्व में एक बार शिशु की भाँति निश्चिन्त होकर क्रीड़ा करना चाहता हूँ। चाहता हूँ इसी में तल्लीन हो जाना।

कुछ तो शान्ति मिलती।

जब मेरा प्रयत्न अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर झूम उठता है, मैं अल्हड़ बनकर अपने खिलौनों में तल्लीन हो जाता हूँ, विचार को प्रणाम करके स्वार्थ की प्रतिमा के चरणों में पूजा करने बैठता हूँ—

ठीक उसी समय कोई भीतर से कहता है 'सावधान!' यही विश्राम स्थान नहीं, और चलना होगा। ध्यान रहे उस पार.....एक पविपात मेरे समस्त आयोजन को चकनाचूर कर देता है। मैं तिलमिला उठता हूँ और सोचता हूँ कि उस पार क्या होगा? उसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ?

जितना मैं इस चिन्ता से भागना चाहता हूँ वह उतनी ही मेरे सिर पड़ती है। क्या करूँ देव?

★

★

★

क्यों न मैं इसी पार में लीन रहूँ?

यह मेरा अपना है, मेरे सम्मुख है, मैं इसमें विचरण करता हूँ। इसके परिवर्तन मुझे प्रभावित करते हैं, इसके सुख-दुःख मेरे अपने हैं और इसी का एक निवासी हूँ।

इसी में चेष्टा करने की मुझमें शक्ति भी है।

वह अज्ञात जग, उस पार का यह अगम अज्ञेय प्रदेश मुझे क्यों विक्षिप्त करता है? मुझसे उसका क्या सम्बन्ध? पर वह मेरे इस रंगशाला को उजाड़ने क्यों हृदय में आता है?

मैं जिसे नहीं जानता उसके लिए क्या करूँ?

मेरा यही विश्व क्या कुछ बुरा है? मैं यहाँ रोता हूँ तो हँस भी लेता हूँ, खोता हूँ तो पाता भी हूँ और कुछ भी न सही—यह है तो मेरा अपना!

क्यों हृदय! तुम सन्तुष्ट क्यों नहीं होते?

एक अदृश्य जगत और उसकी चिन्ता मानव को उन्मथित करती रहती

है। वह सब कुछ करते हुए भी उसे भूल नहीं पाता। माने या न माने, किसी में प्रत्यक्ष और किसी में छिपी हुई उस पार की चिन्ता रहती ही है।

तब मानव क्या वहीं का मूल प्राणी है।

यह हमारा जगत, हमारा नहीं! हमने इसे भूल से अपना मान रखा है। इसकी अशान्ति, इसकी नश्वरता और इसके अनोखे परिवर्तन कुछ ऐसा संकेत तो करते हैं।

हमारा होता तो हम इसे अपना पाते।

हम उद्योग करते हैं किन्तु हमारी विफलता ही सफलता से भारी है। प्रायः यहाँ हम छले ही गये हैं।

तब हमारा संसार कहाँ—उस पार?

हम बहुत दूर हैं।

नहीं जानते उस पार क्या होगा, उसका अनुसन्धान हमारे लिये असम्भव हैं अखिलेश!

हमारे सोचने का क्या अर्थ?

अनन्त भवाम्बुधि की लोल उत्तुंग लहरों के थपेड़ों में जीवन का अपार जाल क्या मुझे जाने देगा? काल के किनारे हीन प्रदेश को चीरकर ये निर्बल नेत्र कैसे देखें उधर?

मैं एक साधनहीन प्राणी हूँ।

पता नहीं कितनी लहरें और कितने भ्रमर मुझे निगल लेने की प्रतीक्षा में हैं। अपने पास न तरणी है न दिग्मापक यन्त्र। इन श्रान्त बाहुओं से मैं इसे पार पा सकूँगा!

कर्णधार! कैसे कहते हो 'कूद पड़ो।'

सुकुमार प्राणों की जीर्ण-शीर्ण तरी इन प्रचण्ड हिलोरों की प्रताड़ना से छिन्न-भिन्न हो उठेगी। अतल के गर्भ से यह असहाय कभी ऊपर नहीं उठ सकेगा।

मुझे नहीं चाहिए इसके रत्न।

रत्नों का अन्वेषी कोई और होगा। यह दुर्बल उनके पाने के प्रलोभन में इतना साहस करे कैसे? क्या आशा है इस अपार से उत्तीर्ण होने की।

इस पार तो सीपों एवं कंकड़ियों में खेलते हुए तप्त पुलिन पर तड़पना

किसी प्रकार भला है अगाध के अङ्ग में निराश्रय डाल देने की अपेक्षा मेरे लिए।
मैं एक साहसहीन दीन हूँ नाथ!

★

★

★

ना—मैं नहीं जाता दयामय!
जाना चाहते हुए भी नहीं जाऊँगा! मुझे यहीं इसी पार खड़े रहने दो। मैं
यहीं खड़ा रहूँगा।

तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा हृदयेश!
वारापार के स्वामी! मैं यहीं खड़ा रहूँगा तुम्हारा पथ देखता हुआ।
तब तक, जब तक कि तुम स्वयं आकर उठाकर मुझे उस पार नहीं ले
जाते। जब तक तुम मेरे कर्णधार नहीं बनते।

तुमको स्वयं आना होगा।
अपने अनन्त ऐश्वर्य को छोड़कर उस पार से मेरे लिए एक न एक दिन
तुम आओगे और अपने हाथों से खेकर दूर तरी को पार करोगे।

तुम्हारे सान्निध्य में भय कैसा!
तुम आओ! डुबा देना या पार करना। मुझे तुम पर विश्वास है। तुम
एकमात्र तुम्हीं उस पार पहुँचा सकते हो।

कितना कराल है यह समुद्र! कितनी उत्कट है उस पार की अभिलाषा!
कितना निरीह है यह प्राणी! और कितना कष्टमय है इस पार का जीवन!
तुमने कुछ सोचा है दीनानाथ!

तुम्हारे नाम पर, तुम्हारी आशा पर मैं यहीं खड़ा हूँगा। तुम आओ या मत
आओ। बचाओ या डुबाओ। जो जी में आवे करो।

आओगे? अपने महामहिम उस पार के दिव्य लोक में उठाने के लिए,
एक क्षण को उसे छोड़कर इस भव आओगे? और पहुँचा दोगे इस पथिक
को उस पार?

भावराज्य-5 (आकुलता में)

अन्धकार—घोर अन्धकार।

प्रकाश का कहीं पता भी नहीं है। जीवन एक विराट् अन्धकारमय भयानक
अन्तराल में पड़ा हुआ भटक रहा है। आशा का पिशाच—दीप आकाश की
एक भ्रममय रेखा—सा दूर क्षितिज पर जलता और बुझता दृष्टि पड़ता है।

वह प्रकाश नहीं, आपत्ति का मायाजाल है।
उद्धत मन गिरता पड़ता चाहे जिस ओर टटोलने को दौड़ता है और बदले
में पाता है ठोकें एवं कण्टक।

पता नहीं, इस अन्धकार के गर्भ में कितनी विभीषिकाएँ छिपी हैं। मुझे
भय लग रहा है—कोई दो भयंकर अदृश्य नेत्र मुझे घूरते—से प्रतीत होते हैं।
मानो कोई मुझे खा जाना.....।

किधर? सब ओर एक—सा पथ है। इसमें यदि सुन्दर एवं सुखद प्रान्त
भी हों तो वे अन्धेरे की विभीषिका से भीषण हो चुके हैं। उन्हें कहाँ और
कैसे अन्वेषण करूँ?

यहाँ खड़ा रहना भी निरापद नहीं।
कहाँ जाऊँ? किधर जाऊँ? ऐसे भीत होकर भागना भी तो भयपूर्ण है।
भगवान्! मेरी रक्षा करो। मुझे बचाओ!

प्रतिध्वनि मुझे उलटे डराती है।
मेरे लिए यहाँ अब एक—एक पल युग—सा हो रहा है। दम घुटा जाता है,
प्राण तड़प रहे हैं, एक आधार—एक आश्रय! कोई हाथ पकड़कर उबारने
वाला.....।

कहाँ है वह मेरा आपत्तियों का परमाश्रय?
'इस अन्धकार के आवरण में!'
किसने कहा? कौन बोल रहा है? इस अन्धकार के आवरण में मेरा
हृदय—धन छिपा है? इसी के पीछे!

अच्छ नटखट!
मुझे इस आवर्त में डालकर तू इसके पीछे से देख रहा है! तू मेरी भीति
एवं भ्रान्ति पर हँस रहा है! यह तेरी क्रीड़ा है? यह भोला मानव ही तुझे क्रीड़ा
करने को मिला था?

खेल—जी भरकर खेल।
नहीं मानता—मानूँ कैसे? वह परम प्रकाश है न!
सूर्य को अन्धकार ने छिपा रखा है, अग्नि ने जल को जला दिया, हिम ने
पाहन को द्रवित कर दिया, भला यह सब भी कहीं मानने की बातें हैं।
किसी पागल का प्रलाप होगा।

किन्तु—तम आया कहाँ से ? तम तो था नहीं, वही नटखट था। अवश्य वही कुछ लीला कर रहा है। यह तम भी उसी की लीला है। अच्छे लीलाधर हो नटवर !

भीति क्या ? यह तो लीला है।

होगी—मुझे ऐसी लीला अच्छी नहीं लगती। मेरा नन्हा-हृदय आकुलता से उछल रहा है। मेरे भावों का संसार इस तमस्तोम में डूबा जा रहा है। मेरे भोले प्राण भय से सिमटे जा रहे हैं। मैं नहीं चाहता ऐसी लीला देखना।

डराओं मत—अपनी इस लीला का संवरण करो। अपने दिव्य रूप की झाँकी देखने दो।

‘यह मेरी सृष्टि है!’

समझ नहीं पड़ता—कब मेरी धूमिल आहों ने इस अँधेरे की रचना की। मेरी वासनाओं में इतनी विभीषिका अन्तर्हित थी ! तो क्या यह मेरे अन्तर के संसार का ही प्रतिबिम्ब है ?

मेरे अन्तर में—ऐसा संसार !

कभी देखा तो है नहीं, हाँ—कभी वहाँ ज्ञान का प्रकाश अपने क्षीणतम रूप में भी नहीं पहुँचा। पहुँचा यह कामनाओं का कूड़ा !

वह इसी से तो नहीं आता ? यह उसके योग्य है भी नहीं।

क्या वह यहाँ नहीं आयेगा ? इसे स्वच्छ करना होगा ? ये दुर्बलकर ये इस अन्धकार में असहाय नेत्र और यह क्षीण प्राणी इस अनादि विराट् को कैसे स्वच्छ करेगा ? कैसे यहाँ प्रकाश का प्राकट्य करेगा ? कहीं से एक किरण भी आती तो।

मेरा सही—अब तो विवश हूँ।

पता नहीं कब यह अपार दुरूह तम एकत्र होता रहा। मैं इसे जान भी न पाया। यह मेरे हृदय में एकत्र हुआ—मेरी अज्ञात-दशा में। अब क्या हो ?

तब निराश हो जाऊँ ?

श्यामसुन्दर ! सोचो तो सही, मैं भला कैसे इसे दूर कर पाऊँगा ? आओ ! तुम आने की इच्छा तो करो। यह तुम्हारी नख-ज्योति से प्रकाश में परिणत हो जायगा। यह सब कूड़ा पुष्पराशि बनकर लहरायेगा। तुम आओ तो सही। मुझ पर मत छोड़ो नाथ।

आओगे ? कृपामय ! होगी कृपा की कोर ?

सब झूठ—सब बहाना।

मेरे हृदय में कहाँ से यह सब आया ? मुझे इसके एकत्र करने की किसने प्रेरणा की ? फिर जब तुम उस हृदय में थे ही, तो वहाँ यह कैसे समा सका ? ऐसा कभी सम्भव नहीं।

सब तुम्हारी करतूत है।

मैं घबड़ा उठा हूँ, व्याकुल हो चुका हूँ। देव ! बचाओ मुझे इस भयंकर भीति से ! यह तुम्हारी लीला है, इससे मुझे पार लगाओ !

‘भीति है कहाँ ? कहाँ अन्धकार है ?’

क्या कहा ? मैं यह क्या देख रहा हूँ ? जो स्पष्ट सम्मुख देख रहा हूँ, उसे कैसे अस्वीकार कर दूँ ? कैसे मान लूँ कि यह अन्धकार मेरी भ्रान्ति है ? कैसे ? बताओ !

सोचूँ ? मुझे सोचना ही आता तो यह सब आपत्ति क्यों होती ? तुम्ही बताओ प्रभो ! इससे कैसे पार हों ? मुझे हाथ पकड़कर पार कर दो ! अपने पावन चरणों में ले लो !

तुम्हारे चरणों में ही हूँ ? तब यह सब अन्धकार ?

तुम हो ! यह तुम्हारे घनश्याम अंग की मंजुल छटा है ! तुम स्वयं सम्मुख खड़े होकर मुझे छका रहे हो। छली ! अब तक मैंने तुम्हें पहचाना नहीं। अच्छा, क्षमा करो।

भागो मत—पीछे मत हटो ! आओ एकबार तुम्हें दोनों भुजाओं से भेंट लूँ ! एकबार तुम्हारे चरणों में रखकर मस्तक को सफल कर लूँ ! भागते हो ? कहाँ भागते ? दूर क्यों हटते हो ? आओ ! समीप आओ !!

गोविन्द ! श्याम सुन्दर !!

भावराज्य-6 (बड़ा बनूंगा)

आज कन्हाई को धुन चढ़ी है—‘मैं बड़ा बनूँगा।’ आपको कोई इसका सीधा उपाय ज्ञात है ?

श्याम सुन्दर इसे तो सह सकता है कि बाबा, मैया, ताऊ, चाचा या दूसरे गोप इसे कह देते हैं—‘अभी तू छोटा है।’

ताई, चाची और बूढ़ी गोपियाँ भी छोटा कह देती हैं, इसका भी बुरा नहीं लगता। दाऊदादा से, ऋषभ से, अर्जुन से और विशाल से छोटा है, यह भी नाप करके इसने देख लिया है, किन्तु यह भी कोई बात है कि वरूथप, भद्र और श्रीदामा भी इसे छोटा कह दें। नहीं यह छोटा नहीं रहेगा। बड़ा बनेगा अब।

‘मैं बड़ा बनूँगा।’ मैया से यह खीझ रहा है—‘तू मुझे बड़ा बना दे।’

तीन वर्ष का नन्हा कन्हाई। मैया ने स्नान कराके केशर की खौर लगा दी है। भाल पर नेत्रों में काजल लगाते समय एक बिन्दु लगा दिया है। अलकों में मयूरपिच्छ सजा दिया है मुक्तामाला सजाकर। वक्ष पर मोतियों की लड़ी के मध्य से कौस्तुभ और श्रीवत्स झांकते से लगते हैं। अभी पटुका कन्धे पर नहीं है। कर्णों में कंकण, भुजाओं में अङ्गद, कानों में कुण्डल, कटि में किंकिणी, चरणों में नूपुर हैं।

‘तू बड़ा कैसे बनेगा? यह गोपी हँस रही है—‘बड़ा तो उड़द का बनता है या मूँग का और दही में डुबाया जाता है। तू दही की बड़ी मटकी में डूबेगा?’

‘वह बड़ा नहीं।’ श्याम ने मस्तक हिलाया—‘भद्र से, श्रीदामा से बड़ा।’

‘मैं तो स्वयं छोटी हूँ। तेरी माँ से, ताई से छोटी हूँ। मैया भी हँस रही है—‘यह गोपी तो मुझसे भी छोटी है। मैं तुझे कैसे बड़ा बना सकती हूँ।’

कन्हाई मैया से तनिक हटकर खड़ा हो गया है। जो स्वयं छोटी है वह बड़ा नहीं बना सकती, यह बात तो समझ में आने की है; किन्तु मैया छोटी है? किधर से छोटी है? बड़े ध्यान से मैया को और गोपी को भी देखने लगा है।

मैया बैठी है। गोपी भी बैठी है। कन्हाई को लगता है कि मैया सचमुच छोटी है। यह तो उससे भी छोटी दीखती है। तब? तब माँ इसे बड़ा बना देगी। माँ रोहिणी तो बड़ी हैं ही।

‘माँ! मैं बड़ा बनूँगा! कन्हाई दौड़कर गया और माँ के पैरों से लिपट गया। माँ खड़ी हैं, अतः कन्हाई को बहुत बड़ी लगती हैं।

‘हाँ, मेरा लाल खूब बड़ा बनेगा।’ माँ रोहिणी ने अङ्क में उठाना चाहा।

‘नहीं, अभी बड़ा बना दो मुझे। दाऊदादा जैसा बड़ा।’ दाऊदादा को माँ रोहिणी ने ही बड़ा बनाया होगा, यह कन्हाई सोचने लगा है।

‘तू अपने दाऊदादा के बराबर बनेगा या उससे बड़ा?’ माँ ने हँसकर पूछा।

‘उहूँ!’ कन्हाई ने सिर हिला दिया। दाऊदादा से बड़ा बनने की बात अच्छी नहीं लगी। दाऊदादा के बराबर भी बनना ठीक नहीं लगा। दाऊदादा बड़ा रहे यही अच्छा लगता है; किन्तु—‘श्रीदामा से बड़ा बनूँगा।’

‘अच्छा, माँ ने स्वीकार कर लिया—‘उससे बड़ा तो तू है। आज बछड़े चराकर आ तो तूझे समझा दूँगी।’

‘वह नहीं मानता।’ कन्हाई का हठ कुछ ढीला पड़ा है—‘तू मुझे बड़ा बना दे।’

‘दादा! बड़ा कैसे बनते हैं?’ बछड़ों के साथ बन में जाते ही श्याम आज दूसरे खेल छोड़कर अपने बड़े भाई के समीप आ खड़ा हुआ।

‘मैं बताऊँ?’ देवप्रस्थ ने कहा।

‘तू तो स्वयं छोटा है न मुझसे भी छोटा।’ कन्हाई ने देवप्रस्थ की ओर देखा।

‘छोटा हूँ तो क्या हो गया।’ देवप्रस्थ दौड़कर कहीं से एक दाना चना ले आया—‘देख, मैं इसे बड़ा बनाता हूँ।’

श्याम आश्चर्य से देवप्रस्थ को घूरकर देखने लगा है। सब इसे ‘देव’ कहते हैं तो क्या यह सचमुच देवता है? यह इसे दाने को बड़ा कैसे बना देगा?

‘तू इसे देखता रहा!’ देवप्रस्थ ने एक नारिकेल के पात्र में पानी भरा और उसमें दाना डाल दिया—‘यह थोड़ी देर में बड़ा हो जायगा। मेरी मैया वृषभों को खिलाने के लिये प्रतिदिन ऐसे बहुत चनों को बड़ा बनाती है।’

‘तेरी मैया को बड़ा बनाना आता है? कन्हाई ने देव का हाथ पकड़ा—‘तुझे क्यों नहीं बनाती?’

‘मैं बड़ा नहीं बनूँगा।’ देवप्रस्थ की बड़े बनने में कोई रुचि ही नहीं है—‘बड़े बनने के लिए देर तक पानी में डूबे रहना पड़ता है और मैया तो थोड़ी देर भी मुझे स्नान नहीं करने देती।’

‘यह बड़ा तो हो रहा है’ कन्हाई ने थोड़ी देर में ही चने को जल से निकाला, किन्तु लगा कि दाना तनिक बड़ा हो गया है।

‘मैं खूब देर तक पानी में बैठा रहूँगा।’ श्याम को पानी में बैठे रहने में कोई बाधा नहीं है। इसे तो चाहे जैसे बड़ा बनना है। अब वन से लौटते ही

देवप्रस्थ के साथ उसके घर जाएगा और पानी में बैठकर बड़ा बनेगा।

यह दूसरी बात है कि इस नन्हें नन्दनन्दन को घर लौटने तक यह बात स्मरण भी रहेगी या नहीं; किन्तु क्या आप विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि यही धुन लिए यह वामन नहीं बना था और झटपट विराट् नहीं बन गया था ?

भावराज्य-7 (गोबर लगाऊँगा)

‘तू ब्राह्मण को तंग करेगा तो तुझे पाप लगेगा।’ मधुमंगल ने कन्हाई से कहा। यह नटखट उसकी लम्बी चुटिया में पता नहीं क्या उलझाने लगा है।

‘पाप लगेगा?’ कन्हाई तनिक चौंका—‘कैसा होता है पाप? लाल, पीला या श्वेत?’ श्याम ने पाप तो देखा नहीं, इसके अंगों में सखा गेरू, रामरज, खड़िया आदि लगाकर इसे सुचित्रित करते हैं। सोचता है कि ऐसा ही कुछ पाप भी होगा।

‘काला, कुत्सित, दुर्गन्धित, मधुमंगल ने मुख बनाया, ‘गिलगिला, बहुत बुरा।’

‘तू लगायेगा?’ कन्हाई हँस पड़ा। अपने आप तो कुछ लगता नहीं। अपने लगाओ या कोई लगावे तो लगे। यह मधुमंगल गोबर तो छूना नहीं चाहता, तब काला दुर्गन्धित पाप कैसे छुएगा? श्याम ने ताली बजायी—‘ले आ!’

मधुमंगल बालक तो है स्वेच्छा से; किन्तु महर्षियों के मध्य बिना संकोच सस्वर शुद्ध वेद-मन्त्र पढ़ता है। महर्षि शाण्डिलय कहते हैं—‘ये योगसिद्ध श्रुति पारद्रष्टा हैं।’

ऐसे मधुमंगल को पता है कि कन्हाई को पाप दूर से भी दिखा देना सूर्य को अन्धकार दिखा देने से अनन्त गुना असम्भव है। सूर्य को अन्धकार भले दिखाया न जा सके; किन्तु सूर्य के स्मरण से अन्धकार तनिक भी नहीं घटता और कन्हाई के स्मरण से?

बड़ी जटा-दाढ़ी वाले ऋषि-मुनि कहते हैं—‘भगवान विराट् की पीठ पाप का—‘अधर्म का आश्रय है।’

वे कहते हैं तो बात सच होगी; किन्तु इस ब्रजराज के लड़ैते लाल की कन्धों से नीचे तक छापी घने, घुंघराले, स्निग्ध, सुकोमल केशों से शोभित

नवधन सुन्दर, चिकनी, सुगठित पीठ का भी स्मरण आ जाय तो स्मरण कर्ता की ही नहीं, उसके पड़ोसी की भी पर्वताकार कुलिश-कठोर पाप राशि तत्काल पहले शुभ्र श्वेत सुरभित कर्पूर जैसी बनकर भभक उठती है और भस्म होते भी विश्व को प्रकाश, पवित्रता, सौरभ प्रदान कर जाती है। उस पाप के अधिदेवता अघासुर का भी उद्धार कर देने वाले इस श्रीब्रजराज कुमार को कोई पाप दिखा पायेगा?

‘पुण्य लगा दूँगा। चन्दन लगा दूँगा।’ मधुमंगल हारना नहीं चाहता। पाप तो उससे भी दूर ही रहता है। श्रीकृष्ण का सखा पाप ढूँढ़ने निकले तो उसे कहीं पाप मिलेगा या उसके पदार्पण से पहले ही भस्म हो चुका होगा?

बात बदल कर भी बनी नहीं। मधुमंगल पुण्य भी नहीं ला सकता। वह स्वयं प्रेम का पवित्र प्रकाश-पुञ्ज न होता तो कृष्ण का अन्तरङ्ग सखा होता? पुण्य तो उस प्रेम की बहुत दूर पड़ी ठीक छाया भी कहने योग्य नहीं है। यह बात भी बोलने के साथ ही मधुमंगल के ध्यान में आ गयी। इसलिए वह झटपट बोल पड़ा—‘चन्दन लगा दूँगा’

अन्ततः मधुमंगल ब्राह्मण ही है। दूसरा कुछ उसके मन में शीघ्रता में आया नहीं और इस समय यहाँ वन में तो उसके पास चन्दन है नहीं।

‘मैं तुझे गोबर लगाऊँगा!’ कन्हाई ताली बजाकर हँसा और इसने सखाओं को पुकार लिया—‘हम सब इसे गोबर लगावेंगे।’

सहस्र-सहस्र सखा। अकेला मधुमंगल इनसे भाग पावेगा? फिर बालक जब क्रीड़ा करने लगते हैं तो वह कहीं एक तक ही केन्द्रित रह सकती है?

सब गोबर लेने दौड़ पड़े हैं। अब मधुमंगल ही नहीं, सभी को आपाद-मस्तक गोमय-मण्डित होना है। स्वभावतः उसके पश्चात् सब यमुना-स्नान करेंगे।

भावराज्य-8 (चित्रकार)

जब विश्व का दारुण विपिन प्रलयंकर के नेत्र-दावानल से दग्ध होकर अनन्त अम्बुधि में हिलोरे लेता है, जब अनिल या अनल, धरा और दिशाएँ, वायु और व्योम सब काल की क्रोड़ी में थककर सोते हैं तब तुम एक सृष्टि करते हो।

यही स्वप्न का संसार है।

अनादि अनन्त काल की निद्रा स्वप्न से सुषुप्ति और सुषुप्ति से स्वप्न में परिणत होती रहती है, किन्तु जागृति का नाम नहीं।

जागृति क्या? ज्ञान—स्वयं तुम।

एकमात्र तुम्हीं जीवन की जागृति का प्रकाश बिखेरते हुए इस प्रकृति पट पर कितने उन्मद और वीभत्स चित्रों की सृष्टि किया करते हो। क्रीड़ा के लिए—विनोद के लिए।

तुम चित्र नहीं—चित्रकार हो।

तुम्हारे कर चित्रों के रंग से रंजित नहीं होते, तुम्हारे निर्मलदुकूल पर रंग का एक भी छींटा नहीं और तुमने कभी लेखनी नहीं उठायी। फिर भी तुम्ही चित्रकार हो, तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं।

तुम चित्रकार हो—विचित्र चित्रकार।

तुम्हारे चित्र जड़ होते हुए भी चेतन हैं। स्वयं अपने चित्रों में प्रविष्ट होकर तुमने उन्हें जीवन दिया, रूप दिया, आकर्षण दिया। तुम चित्र हो गये और चित्र होकर भी चित्र से पृथक्! यह तुम्हारी नाट्यशाला की क्रीड़ा है। तुम्हारी लीला का वैचित्र्य अज्ञेय एवं अचिन्त्य तो है ही, अनुपम भी है।

हम सब तुम्हारे केवल चित्र हैं।

मादक सौन्दर्य ने हमें आत्मविस्मृति के गर्त में डाल दिया।

मलय के मन्थर झोंके पर बैठ कर हमने एक बार अपार पारावार को देखा और गर्व से कह दिया 'मैं बड़ा हूँ—मैं अपने निर्माता से भी बड़ा हूँ।'

मानव का यह मोहमय गर्व उसे ले डूबा।

तुम हँस रहे थे इन चित्रों की चपलता पर। तुम्हारी हास्यकिरण अवनिरपराध शत-शत उत्थान-पतन का निर्माण कर रही थी और मानव समझता था कि यह मेरे पौरुष का परिणाम है।

तुमने उपेक्षा की इस, भावना की।

तुमने जीवन दिया, गति दिया, विचार दिया। अपने चित्रों में प्रविष्ट होकर तुमने अपनापन सब उनमें भर दिया। उन्हें पूर्णता पर पहुँचाने का सम्पूर्ण पाथेय उनके अंचल से बाँध दिया।

पुकारा तुमने—उनका आह्वान किया।

तुम्हारा आह्वान था कि वे आवें और अपनी क्षुद्रता को त्यागकर असीम बन जायें। किन्तु सुना किसने? मानव-चित्र तुम्हारे दूसरे चित्रों-को अपना बनाने में लगा था। वह उन पर अधिकार कर रहा था।

स्वतः सहयोगी को नष्ट करते हुए।

स्वातिका अमृत बिन्दु सर्प के मुख में पड़कर हालाहल हो गया। अपात्र में पहुँचकर शक्ति विकृत हो उठी। तुम्हारी जीवन एवं ज्ञान-शक्ति मानव-पात्र में विनाशक होकर स्वार्थ का आवरण ओढ़ बैठी।

तुम इसे सह न सके।

लेखनी का दूसरा प्रवाह चला। जो अंकुरित कर सकता है, वह दावानल भी जला सकता है। चित्रों के जगत् में एक लाल-लाल अग्नि-रेखा फिर गयी।

आज मानव-समाज उसमें तड़प रहा है।

तुम चित्रकार हो—वह चित्रकार जो अपने चित्र को कुरूप करने में प्रसन्न हो ही नहीं सकता।

हलकी-सी लेखनी घूमती है और ध्वंस की छाया मिटती है। कालिमा को अपने गर्भ में छिपाकर पुनः नवीन सौन्दर्य बिखेर जाती है।

मानव सोचता है—यह मेरे उद्योग की सफलता है।

तुम उसे सदा को अनन्त माधुर्य प्रदान करने को प्रस्तुत हो—अनन्त सौन्दर्य-जगत् दान करना चाहते हो, पर वह तुमसे पृथक् रहकर अपने को कुछ मान बैठा है! उसे अपनी शक्ति का गर्व है!!

यही प्रतिबन्धक है तुम्हारी दया-ग्रहण में।

वह स्वयं समझता है कि अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा और सुखी हो सकेगा। उसके अहंकार की ठसक ज्वाला का आह्वान करती है और वह बार-बार प्रतिपल जीवन को जलाती रहती है।

यदि तुम्हारी कृपा क्षतिपूर्ति न करती रहती.....

यहाँ होता एक सूना श्मशान, भयंकर वीभत्स प्रदेश तथा कंकालों के भस्मावशेष। पर तुमको सम्भवतः यह स्वीकार नहीं।

तुम अपने चित्रों से स्नेह करते हो।

एक दिन वह आयेगा जब तुम इससे ऊब उठोगे। चित्रों की चपलता उन्हें ले डूबेगी। प्रलय की ज्वाला में वे स्वाहा होकर पुनः नव-निर्माण के उपयुक्त बनेंगे।

क्या तब भी यह अहंकार जा सकेगा ?

क्रीड़ामय ! पता नहीं तुम्हारी इस लीला में कितने रहस्य छिपे पड़े हैं।
कौन जान सकता है उनका.....

चित्र जगत् के प्रणेता ! तुम्ही जानो यह क्या है।

यह भी तुम्हारा एक चित्र है।

तुम्हारे उन असंख्य चित्रों में से एक उपेक्षणीय चित्र।

न राग रहा और न आकर्षण ही रहा।

अनादि प्रतिद्वन्द्विता में अपना सब कुछ खेलते-खेलते समाप्त हो चुका है। इसीलिए दूसरों के द्वारा तिरस्कृत हो रहा है।

मेरे चित्रकार ! अपनाओगे पुनः अपने जन को।

मैं पुनः अपने उन सहयोगियों के स्वार्थ का शिकार नहीं बन जाना चाहता। मुझे वहाँ जाने के लिए न तो तुमसे रूप माँगना है और न आकर्षण। श्रान्त हो चुका हूँ इन मादक वैभव के व्यर्थ भार से।

मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।

मैंने तुम्हे कभी स्मरण नहीं किया, कभी तुम्हारे दान की कृतज्ञता नहीं प्रकट की तथा कभी तुम्हारी देन से तुम्हें सन्तुष्ट करने की चेष्टा भी इस अहंकारी के द्वारा नहीं हुई।

अब हो भी नहीं सकती।

जब कुछ रहा नहीं तो क्या होगा। शुष्क एवं मलिन अन्तर में अब एक भी ऐसा पुष्प नहीं जो तुम्हे प्रसन्न कर सके।

फिर भी तुम्हारे पास आया हूँ।

अपने श्रीचरणों में इस अभागे चित्र को डाल लो। रखो या फाड़ कर फेंक दो। जो चाहो करो। यह अपराधी है, पापी है, अकृतज्ञ है, बीभत्स है, कुरूप है और घृणित है।

जो भी है—है तो तुम्हारी ही निर्मिति ?

एक बार छू दो इसे कर से मेरे चित्रकार !

भावराज्य-9 (व्यर्थ)

संसार समृद्धि से सूना नहीं।

ऐश्वर्य का अपार अम्बार लगा है, कोष का कोई पता नहीं। कोई भी भौतिक पदार्थ ऐसा नहीं जो अप्राप्य हो। उनके भ्रूभंग पर विश्व का वैभव नृत्य करता है।

हैं—ऐसे लोग भी इस विश्व में हैं! वे सुखी हैं? शान्त हैं! आनन्द में हैं?

ठीक विपरीत—तृष्णा की अग्नि उन्हें और अधिक जलाती है, भय का भूत उन्हें बहुत सन्तप्त रखता है प्राणों का मोह उनकी स्वाधीनता को रक्षकों के हाथों बेच देता है। एक क्षण भी उन्हें शान्ति नहीं। तनिक भी विश्राम नहीं।

इस ऐश्वर्य का क्या उपयोग !

धन के धूलिमय वातावरण में जिनको निरन्तर निःश्वसित होना है उनके जीवन में सुख और आनन्द कैसा ! वहाँ है स्पर्धा-ईर्ष्या और विनाश का कराल भय !

वे पशु हैं केवल संग्रह का भार वहन करने के लिए।

मदमत्त करिवर के कुम्भ को अपनी चपेटों से चूर्णित कर देने वाले वीर भी तो बीमारी की भेंट हो जाते हैं ! प्रतिद्वन्दी की चिन्ता उनसे कब छूटती है ! मृत्यु से क्या वे विजय पा सकते हैं ?

मानवता क्या ? सबको संतुष्ट रखने का जीवित जंजाल ?

मैंने देखा है विद्या और बुद्धि के बृहस्पतियों को पापी पेट के लिए अभिमानी लक्ष्मीवाहनों के द्वार की चाटुकारी करते ! कितनी दयनीय दशा !

इन पूंजियों के उपार्जन से क्या लाभ ?

क्या पाया विप्रों ने विप्रत्व पाकर ?

उच्चकुल का गर्व तब कहाँ रहता है जब वे शूद्र के द्वार पर सेवा की भिक्षा चाहते हैं और अपमानित होते हैं।

देव ! यज्ञ, दान और तप श्रेष्ठ हैं।

कितनी देर को—इनका अन्ततः फल क्या ? स्वर्ग, धर्म, और सिद्धि। क्या यही आनन्द के साधक हैं ?

स्वर्ग की नश्वरता क्या छिपी है। कहाँ रहती है स्वर्ग की सुखनिधि जब दैत्यों के द्वारा ताड़ित देववृन्द अपने घर-द्वार छोड़कर मारा-मारा गिरि-गुहाओं

में प्राण बचाता फिरता है।

देवेन्द्र तपस्वियों की तपस्या से सदा सशंक रहते हैं।

धर्म होगा और मिलेंगे भोग। यही भोग जो रोग के भी रोग है। जो तुम्हारे संयोग से कोसों दूर कर देते हैं निरीह जीव को।

ऐसे धर्म का मैं क्या करूँ?

मुझे बाजीगर नहीं बनना। यदि मैं व्योम विहार कर सकूँ, यदि लोगों के नेत्रों से अदृश्य हो सकूँ, यदि स्वेच्छावर्ताव में स्वतन्त्र हो जाऊँ तो क्या निर्भय भी हो सकूँगा?

वहाँ भी तो द्वन्दिता है!

असहिष्णु संसार मुझे कहीं भी शान्ति से रहने देगा? कोई भी शक्ति मुझे दुःख एवं शोक के शंकित गर्त से उठा सकेगी?

खुले नेत्रों से देखता हूँ। मुझे अन्धानुकरण करने के प्रथम बताओ—क्या यहाँ विश्राम मिलेगा? मुझे ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता! एक भी स्थल, एक भी वस्तु?

मेरे लिए सब व्यर्थ!

मैं जानता हूँ अपने गन्तव्य को!

तुम्हारे श्रीकर लालित मंजुल युगल-चरणों की कमलारुण छाया के अतिरिक्त न कहीं शान्ति है, न सुख। आनन्द का घनीभाव तुम्हारी पदनख ज्योति की छटा में एकमात्र निहित है।

मुझे भटकने की क्या आवश्यकता!

जिन्हें लेकर उस दिव्य छाया को देखने का अधिकार छिन जाता हो, जिसकी उपसना तुमसे विमुख कर देती हो, क्या वह मेरे लिए.....

अहंकारी तुम्हारा नाम लेने का अधिकारी नहीं।

जो उच्चवर्ण मानता है अपने को, जिसे अपनी सम्पत्ति का भरोसा है, जिसे अपनी विद्या एवं बुद्धि का गर्व है और जो अपने दान-पुण्य, तप-तितिक्षा के बल पर फूला नहीं समाता, क्या वह तुम्हारा हो सकेगा?

दीनों की उपेक्षा उसके लिए स्वाभाविक है?

दीनबन्धु! कंगाल निर्बलों का तिरस्कार करने वाले क्या तुम्हारी पूजा करने के पात्र बन सकेंगे?

काँपते हुए करों से प्रार्थना करता हूँ—

मुझे उधर मत ढकेलना जहाँ से तुम दूर हो जाओ। उस सुख से मुझे दूर रहने दो जो तुम्हारे चरणों से दूर करता हो। बचाओ प्रभो! प्रलोभनों के प्रबल प्रवाह से इस निर्बल को!

केवल तुम—तुम्हारे श्रीचरण.....

वह धन हो या बल, बुद्धि हो या विद्या, मान हो या यश, सुख हो या समृद्धि, मित्र हों या कुटुम्बी, सिद्धि हो या स्वर्ग, किसी के जाल में मुझे मत डालो! तुम—केवल तुम मेरे हो जाओ दयामय?

मुझे दूसरा कुछ भी नहीं चाहिए।

मैंने सुखों को ठुकरा दिया।

जान-बूझकर अपने भौतिक जंजाल को अपने हाथों भस्म कर दिया। स्वयं कंगाल भिखारी बना।

मैंने स्वतः दुःखों—आपत्तियों का आह्वान किया!

मुझसे और क्या आशा करोगे? साधन भजन मुझसे होता नहीं, यह चपल चित्त न शान्त होता और न एकाग्र। आपत्ति को निमन्त्रण देकर अब निरुपाय हो बैठा हूँ।

तुम्हारी आशा—तुम्हारा विश्वास।

मुझमें प्रेम नहीं, नियम नहीं, साधन नहीं। यह एक असहाय, अनाथ दीन है। सर्वदा निःसहाय।

अब तुमको इसकी चिन्ता करनी होगी। तुमको रक्षा करनी होगी माया के थपेड़ों से और प्रदान करना होगा अपना मंजु प्रेम। जीवन रथ की रश्मि तुम और संचालित करो!

मैं क्यों चिन्ता करूँ मेरे श्याम?

उत्तरदायित्व तो तुम पर है उदार। तुम उदार कहलाते हो, तुम पतितपावन कहे जाते हो, तुमने, स्वयं दीनों की रक्षा का वचन दिया है। आज वह सब भंग हो रहा है! तुम्हारी उपेक्षा उसे नष्ट कर रही है!!

बचाओ! अपने वाक्यों की मर्यादा का रक्षण करो।

श्रुति की मर्यादा, तुम्हारी स्वतः की प्रतिज्ञाएँ और इस दीन की ये अविकल आर्हे निरुपयोगी हो जावेंगी। मर्यादा रक्षक! आज तक के समस्त शास्त्र

वाक्य झूठे हो रहेंगे जो तुम्हें करुणामय कहते हैं।
यदि जीवन में तुम्हारे श्रीचरणों की प्राप्ति न हुई—
व्यर्थ—तो सब व्यर्थ!

भावराज्य-10 (फिर कभी नहीं)

अपनी समस्त आकांक्षाओं की डाली सजाकर आज मैं तेरे द्वार पर आया हूँ। युग-युग की जन्म-जन्म की आकांक्षाओं की डाली सजाकर।

तू देखेगा? सुनेगा?

तू नहीं जानता कि कितने कण्टकाकीर्ण मार्गों से होकर यह पथिक आया है। निभृत कल्पना के कितने कोमल पथ से!

समझ सकेगा?

आशा की वेदी पर अपने हाथों अपने जीवन का बलिदान करके, उसकी भस्म मले। उसके अनुराग का रंग जलकर भी अरुण हो गया है। यह है उसके मृदुल अवशेष की मुकुलित-माला।

धारण करेगा इसे?

मृत्यु से आँख मिचौनी खेलने के वे रौद्र-दिवस अभी स्मृति-पट पर ज्यों के त्यों अंकित हैं। प्रकृति नटी की चपलता उन्हें तनिक भी घुँघला न कर सकी। उनको सम्मुख रखकर इस प्रार्थना का मूल्य आंकना।

पारीख! परख सकेगा इसका मूल्य?

मुझे पता नहीं—कितनी भोली माया मरीचिका की मनोरम लहरिया मेरी मूक प्रतीक्षा में निष्फल हो गई। मुझे उधर देखने का अवसर कहाँ था! तेरी निर्मम द्वार-देहली की ओर ये प्यासी आँखी लगी जो थीं?

तृप्त कर सकेगा इनकी प्यास?

मनोभावों के इस स्वप्न जगत् में भी कुछ सत्य है, चिर सुन्दर है। मैंने यह तेरी बात मान ली और ठुकरा दिया अपने उस सिंचित सुरभित जीवन निकुंज को। पर पाया क्या? मरुकी नीरस निराशा!

समझ सकेगा अपने विश्वास को?

क्या मैं अपने उस नन्हें निकुंज में तृप्त न था!

मेरे इन्हीं हाथों उसकी भस्म बना देने वाले छली! तब तू मुझे ठगने क्यों गया था? मुझे निराधार क्रन्दन कराने में तुझे क्या आनन्द आया?

कितनी मोहक थी वह! मेरी प्यासी अभिलाषा। यदि वहाँ तृप्त न हो सकती थी तो यों भूली-भूली भटकती न थी। मृगजल सही, पर एक आशा थी, एक आधार था।

मैं अपने उस निकुंज में अपने को भूला पड़ा था।

अतृप्ति थी—पर उतने में ही सीमित। मुझे उसी में सुख भी था। पता नहीं था—इससे बाहर भी कुछ है। मैं अपने अज्ञान में लिपटा पड़ा था। अन्धकार की वह सूनी शान्ति कुछ बुरी भी नहीं थी।

तब तुमने मुझे क्यों बुलाया?

मैंने तुझ पर विश्वास किया। तेरे आकर्षण ने मुझे विवश किया विश्वास करने को। मैं तेरे पीछे आने को उद्यत हो गया। तूने कहा—‘बाहर प्रकाश है, आनन्द है, शान्ति है। बहुत सुन्दर है मेरे पास का विश्व।’

तूने कहा इसे जला दो, तब बाहर आ सकोगे।

मैंने माना, अपने प्यारे निकुंज को आह! स्वयं जला दिया। वह जल गया अपने निर्माता की भावना से। पर मुझे क्या मिला—क्रन्दन, भटकना और ठोकरें। तू पता नहीं कहाँ भाग गया मुझे निराश्रय बनाकर।

आज इतने दिनों पर तेरे द्वार पर पहुँच सका हूँ।

कितना भटका, कितना रोया, मार्ग में कितने कष्ट सहे, बड़ी लम्बी कथा है। जाने दो—उसे कहकर तुम्हें कष्ट नहीं दूँगा, तुम्हारा समय नष्ट नहीं करूँगा, जो हो गया वह अतीत के गर्भ में गया।

अब स्मरण कर सकेगा अपने उन श्रवण सुन्दर वचनों को?

आज भी कोई आशा नहीं?

निष्ठुर! तो क्या वह तेरा केवल छल था? क्या सचमुच तुझे कभी उन वचनों को पूर्ण करना नहीं हैं? मुझे तड़पाने के हेतु ही वह साज-सज्जा थी?

तू इतना छली है?

‘लौट जाऊँ?’ अब यह कहते लज्जा नहीं आती! कहाँ लौट जाऊँ? उस मेरे भावनाकुंज को तो तूने मुझसे ही भस्म करा दिया, अब जाऊँ कहाँ? कौनसा शरण स्थान तूने मेरे लिए छोड़ दिया है?

‘जलाया ही क्यों?’

तनिक अपनी ओर देखकर पूछ! कितना आकर्षण, कितना प्रलोभन

और कितना आश्वासन लेकर गया था तू उस दिन! क्या तुझे पता नहीं कि जलाया क्यों था? मैंने स्वयं जलाया था क्या? तूने ऐसा करने के लिये मुझे कितना प्रेरित किया था! कैसे बुलाया था!

ऐसी क्रीड़ा ठीक नहीं।

तेरी क्रीड़ा हो रही है! तेरा यह विनोद है! एक दिन का सर्वस्व चरणों से मसल कर उसे तड़पाने का यह विनोद तेरे कितना उपयुक्त है! कितना शोभित होता है वह उपहास तुझको!

यह मेरी हँसी है या तेरी?

तुझे 'कुछ भी स्मरण नहीं?' भला अब क्यों स्मरण होने लगा! स्मरण तो तब था! जब मेरी नीरव तन्त्री को छेड़कर करुण राग के लिये मुखरित करना था! वह भोला प्राणी इस जाल का अर्थ नहीं समझ सकेगा। पहेली मत बना—इसकी सीधी-सी प्रार्थना को सुन ले।

मानेगा इतनी मेरी?

मेरे पास चाहे और कुछ न हो पर एक मानी हृदय है।

दीन हूँ, कंगाल हूँ, अनाश्रय और अनाथ हूँ, पर हृदय ऐसा नहीं। वह मानी है, ऐसा मानी जो रूठने पर मानना जानता ही नहीं।

क्या होगा—शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जावेगा। एक जीवन को जला चुका हूँ, इसे तिल-तिल कर काट दूँगा। बहुत कष्ट होगा तो कहीं एकान्त में धरित्री को कुछ क्षार बिन्दु भेंट कर दूँगा। मेरी नीरव निश्वासों शून्य व्योम के विराट पटल पर भटका करेंगी।

इससे अधिक और क्या—विश्व के समस्त कष्ट एक साथ आकर देख लें। हृदय जला करेगा, सह लूँगा। अपनी पीड़ा में आप घुलता रहूँगा। मानता हूँ—तुमसे पृथक् रहना सह्य नहीं। पर असह्य को सहूँगा।

तुम पुकारोगे, पीछे दौड़ोगे, बुलाओगे। एक भी सुनने का नहीं। कर्ण बन्द कर लूँगा, नेत्र फोड़ लूँगा। यदि छूटा चाहोगे तो चमड़ी उधेड़ डालूँगा। सब ज्ञानेन्द्रियों को विदा कर दूँगा।

तुम पुकारोगे—रोओगे। हृदय को वज्र बना लूँगा। न तुम्हें देखूँगा, न स्पर्श करूँगा, न तुम्हारी बातें सुनूँगा। फिर तुम कुछ भी करो—इधर देखने का नाम न लूँगा।

'हो नहीं सकता?' कौन कहता है? अब यही होगा। यह मानी हृदय चूर-चूर हो जावेगा, पर इधर कभी देखेगा नहीं। नहीं-नहीं कभी नहीं।

अभी अवसर है। तब पश्चात्ताप करने से कुछ न होगा।

अपने जीवन-उपवन के समस्त कुसुमों की डाली सजाकर तुम्हारे द्वार पर आया हूँ। मुझे निराश मत करो—लौटाओ मत। मेरी नन्हीं भेंट ले लो—मेरी इस करुण प्रार्थना को सुन लो—स्वीकार कर लो, आज ही—इसी समय।

इसी समय—नहीं तो—फिर कभी नहीं!!

भावराज्य-11 (तुम्हारा ग्वारिया)

गोपाल-नहीं, मेरे स्वामी। रूठो मत॥

तुम्हीं ने तो मुझको इतना धृष्ट बनाया है! मैं जानता हूँ कि मैं कौन हूँ।

अब भी रखी हैं—सामने के उस कदम्ब के खोखले में मेरी वह गाठें लगी लंगोटी, वह फूटी टीन की कटोरी और मेरी दोनों चिथड़े-सी आध-आध हाथ की साफियाँ अब भी ज्यों की त्यों रखी हैं।

मैंने तुम्हें दिखलाया नहीं, पर उन्हें सम्भाल कर रख छोड़ा है।

अपने को भूल न जाऊँ इसलिए।

मैं उन्हें ले लूँगा और चला जाऊँगा। कोई-न-कोई इस भिक्षुक को दुत्कार कर एक टुकड़ा दे देगा। पापी पेट किसी प्रकार भर जायेगा।

अन्यथा कहीं पृथ्वी के किसी सूने कोने में इस दुर्बल शरीर को क्षुधा की अग्नि से परास्त होकर छोड़ दूँगा। एक दीन-कंगाल के न रहने से वैभवशाली विश्व का कुछ भी बिगड़ता नहीं।

किसी को पता भी न चलेगा—कुत्ते और गीदड़ शव को ठिकाने लगा देंगे। दुर्गन्ध उठी तो कोई अपने आप ला फेंकेगा।

कनूँ क्षमा! स्वभाव नहीं जाता, भूल हो गयी।

ब्रजेन्द्रनन्दन! मैं तो भिक्षुक हूँ, अनाथ हूँ मेरा मान-अपमान क्या? मुझ जैसे दूसरों के टुकड़ों पर जीने वाले का क्या आत्मगौरव! एक भिक्षुक से रूठने की क्या आवश्यकता, कह दो वह चला जाएगा। केवल तुम अपने मुख से कह दो।

मैं—पता नहीं मेरे माता-पिता कब मुझ अभागे को छोड़ गये थे। पता नहीं कि माता पृथ्वी के किस कोने को इस पापी ने भूपतित होकर कलंकित किया था। मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। मैं केवल एक भिखारी था।

हाथ में टीन की फूटी कटोरी, कमर में एक चिथड़े की लंगोटी और दो छोटे-छोटे मैले-से टुकड़े। यह सब मैंने कूड़े पर पाये थे। इतनी ही मेरी सम्पत्ति थी।

‘बाबा, भूखा हूँ, अम्मा एक रोटी का टुकड़ा!’

दिन-भर एक द्वार से दूसरे द्वार पापी पेट के लिए भटकता फिरता था। कोई गाली देता, कोई डांटता, कोई दयाकर एक टुकड़ा रोटी दे देता। कूड़े पर के दाने और नालियों में पड़े टुकड़े, लोगों द्वारा फेंके गये फलों के छिलके या कुछ न मिलने पर पानी पीकर वहीं सड़क पर या किसी खण्डहर में रात्रि को हाथ-पैर पेट में करके सिकुड़े पड़े रहने के दिन मुझे भूले नहीं। मुझे स्मरण है।

वह सौभाग्यशाली दिन भी स्मरण है—जब मैं तुम्हारे इस द्वार पर आया था।....मेरे देव, तुम बछड़े चराने गये थे न?

मैया ने मुझे देखा—वे मैया हैं, तुम्हारे ही समान मेरी भी मैया। वे सचमुच मैया हैं—मुझ कंगाल को गोद में उठा लिया। आहा! मेरे जैसे मलिन से उन्हें तनिक भी घृणा न हुई। भला कहीं मैया को भी घृणा होती है।

बाबा भी आ गये—मुझे वस्त्र मिले और मिली लठिया। मैं तुम्हारा ग्वारिया हो गया। मैंने अपनी कटोरी और चिथड़े मैया के कहने पर भी फेंके नहीं। उस कदम्ब के खोखले में रख दिये। उनसे मुझे मोह हो गया था। क्या हुआ? फिर भी मैं तो तुम्हारा ग्वारिया चरवाहा था।

यह पीताम्बर!

उस दिन तुम्हीं ने तो अपना यह पटुका लाकर मेरे कंधे पर डाल दिया था, और यह कछनी किसने बांधी थी? अपने हाथों से ही तो अपने ये आभूषण—मुकुट और माला आदि लाकर तुमने मुझे मूर्ति की भाँति सजाया था। ठीक अपने वेश में पूरा अपने जैसा बना लिया था।

बाबा और मैया हंस रहे थे। दाऊ तुम्हें बढ़ावा दे रहे थे। उनके उदार हृदय में भला अपने-पराये के लिए स्थान कहाँ? उन्हें तो एक अनाथ को अपनाकर

आनन्द आ रहा था। उनके लिए मेरी भाँति ये वस्त्रादि अनमोल तो थे नहीं। मैं बड़ों की बातें नहीं करूँगा।

मैया तो सबकी मैया है। ब्रज के सारे बालक उनके लिए कन्हैया ही हैं। बाबा इन झंझटों से दूर रहते हैं। जो उनके कंधे पर कूदकर चढ़ जाये उसी से खेलने लगेंगे। जो भी रोता हो उसको पुचकार लेंगे। जो उत्पात करें उसी को डाँट देंगे। दाऊ भैया को सदा सबकी रक्षा करने और हमारे झगड़ों में न्याय करने से ही छुटकारा नहीं।

बड़ों को जाने दो, पर मुझे सिर तो तुम्हीं ने चढ़ाया था। मैं तुम्हारा ग्वारिया—चरवाहा.....

तुम खेल में हारने पर मुझे पीठ पर चढ़ा लेते, मेरे साथ बैठकर एक पात्र में भोजन करते, मुझे अपने समान वेशभूषा में रखते, सदा मेरे साथ रहते, लड़ते-झगड़ते और फिर मैया से कहने को मना करके मुझे मना भी लेते।

क्या-क्या नहीं किया तुमने मोहन?

जब दूसरे सखा मुझे कभी भिखमंगा कहकर चिढ़ाना चाहते थे तो किसके नेत्र अरुण हो उठते थे? झगड़ा होने पर जब मैं अपने को हीन समझकर उदास होकर प्रत्युत्तर देना बंद कर देता था तो कौन मेरी ओर से विपक्ष को गिन-गिन के सुनाता था? मेरे नेत्रों में अश्रु देखकर किसके कमलनयन सजल हो उठते थे।

तुम रूठे तो आज बैठे हो न?

सखा मुझसे झगड़ते नहीं थे तो तुम्हारे भय से। तुम्हारे असन्तुष्ट होने के डर से गोप मुझे फटकार नहीं सकते थे। तुम आपे से बाहर हो जाओगे इसी से कोई गोपी मेरे उत्पात का उलाहना मैया को देने का साहस भी नहीं कर सकती थी।

मेरा यहाँ कौन है? जबसे तुमने ही मुख फेर लिया—कौन पूछेगा मुझे?



खण्ड-4 : झाँकी (दिव्य दर्शन की झलकियाँ)

झाँकी-1 (पाद-संवाहन)

आपने सुना है कि शिशुओं की अटपटी मांगें पूरी करना सृष्टिकर्ता के भी वश में नहीं होता? ऐसी एक कथा प्रचलित है।

एक कोई तरुण तपस्वी अनेक वर्षों तक कठोर तप करके सिद्ध होकर लौटे। एक तो तरुण अवस्था, दूसरे सिद्ध होने का आवेश। एक छोटी सरिता के किनारे उनके आश्रम के समीप के एक वृद्ध मुनि का बालक खेल रहा था। तपस्वी ने उसके पास आकर कहा—

वत्स! मैं तपः सिद्धि पाकर आ रहा हूँ, तुम्हें जो माँगना है माँग लो। 'अच्छ' बालक ने उनकी ओर आश्चर्य से देखा और साथ का कमण्डलु उनके आगे धर दिया—'इस सरिता को इसमें भर दीजिए, मैं इसे अपने आश्रम के समीप ले जाऊँगा। पिताश्री को स्नान करने यहाँ तक आना पड़ता है।' तपस्वी ने बालक के पैर पकड़ लिए—'तुम अल्प वयस्क होने पर भी मेरे गुरुदेव हो, तुमने मेरा अहंकार नष्ट कर दिया।'।

यह तो उदाहरण है यह समझाने को कि बालक के मन में कब क्या आ जावेगा, कोई ठिकाना नहीं।

अगले ही दिन साकेत में श्रीसाकेताधीश के राज्यारोहण की वर्षगांठ का महोत्सव होना था। सायंकाल उपवन में श्री भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न में चर्चा चल रही थी—'इस परम मंगल दिवस भी ब्रह्मा, शिवादि को प्रभु के पादपीठ को तनिक दूर से ही भूमि में मस्तक रखकर प्रणाम करना पड़ता है। प्रभु के पाद-संवाहन का सौभाग्य तो अकेले पवनपुत्र को प्राप्त है।'।

उपवन में समीप क्रीड़ा करते एक राघव-शिशु के कानों में भी यह चर्चा पड़ी और सीधे भागा वह श्रीसाकेत अधीश्वरी के समीप। 'अम्बा मैं कल के महोत्सव के अन्त में प्रभु का पाद-संवाहन करूँगा।' अपनी वात्सल्यमयी अम्बा से शिशु को कुछ कहने में संकोच क्यों होता। 'अच्छ!' अम्बा ने स्नेह से अपना हाथ उसके सिर पर रखा। तुम मेरे अंक में आ जाना, मैं तुम्हें

प्रभु के वामपाद के समीप बैठ दूँगी।

'उहूँ' बालक ने पूरी अलकें हिलाते सिर हिला दिया—'मैं प्रभु के दक्षिण पाद का संवाहन करूँगा।'। 'तुम अपने हनुमान दादा से झगड़ोगे?' अम्बा ने चौंक कर अब बालक के मुख की ओर देखा—'तुम्हारे हनुमान दादा प्रभु के दक्षिण-चरण को बड़ लालजी (श्री भरत जी) को भी संवाहन नहीं करने देते। 'मैं दादा से झगड़ूँगा नहीं' बालक ने सीधे ढंग से कह दिया—'किन्तु कल तुम मुझे बुद्धि देने में कृपणता मत करना।

निखिल लोक महेश्वरी के अधरों पर स्मित आ गया। वाणी की अधीश्वरी भी जिनकी अंशांश है, उन्हें बुद्धि देना है तो अपने बालक को कौशल देने में वे कार्पण्य क्यों करने लगीं।

दूसरा दिन आया। प्रभु उन सर्वलोकेश्वरी के साथ सिंहासनासीन हुए। भाइयों ने दोनों पार्श्व के चामर तथा व्यजन सम्हाले। लोकपाल एवं सृष्टिकर्तादि आकर पादपीठ को मुकुटकोटि से स्पर्श करके यथास्थान करबद्ध खड़े होकर स्तवन करने लगे। सबसे अन्त में बालक आया और प्रभु के पादपीठ के समीप करों में प्रभु के दक्षिण पाद को लिए वीरासन से बैठे श्री पवनपुत्र के अंक में उनके मुड़े दक्षिण पाद की जंघा पर ही बैठ गया। 'दादा' श्री आज्ञनेय चौंके, इससे पहले ही बालक ने अपना अलकों से घिरा भोला मुख उनके मुख की ओर उठाया—'मैं आपका पादसम्वाहन करूँगा।'।

श्री पवनकुमार को लगा कि ऐसी विपत्ति तो उन पर लंका के युद्ध में भी कभी नहीं आयी थी। यहाँ समस्त देव-देवेश्वरों एवं प्रभु तथा जगदम्बा के ठीक सम्मुख यह रघुवंशी बालक उनका चरण-संवाहन करेगा? लेकिन वे वायु पुत्र ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने झट से प्रभु का दक्षिण चरण बालक के करों में देते हुए कहा—'भैया! तुम अपने पिताश्री का चरण सम्वाहन करो, वानर के पैर का क्या संवाहन।' हनुमानजी को बहुत सन्तोष हुआ कि बालक ने उनके पाद-संवाहन का आग्रह नहीं किया। वह उनकी दाहिनी जंघा पर ही बैठा-बैठा प्रभु के दक्षिण-चरण को अपने नन्हें करों से संवाहन करने लगा। उसने केवल सिर उठाकर देख लिया कि सिंहासनासीन अम्बा सस्मित, सुप्रसन्ना, वात्सल्यमयी दृष्टि से उसी की ओर देख रही हैं। पद पर शिशु के कोमल

करों का स्पर्श हुआ तो प्रभु ने भी अपने चरणों की ओर देखा। बालक को देख कर तनिक झुककर उन्होंने उसके मस्तक पर अपना दक्षिण कर रखा।

श्री पवनकुमार की दाहिनी जाँघ पर बैठा, करों से प्रभु के दाहिने चरण का संवाहन का सौभाग्य प्राप्त वह बालक जिसके सिर पर प्रभु का दक्षिण कर है, कौन है? यह मत पूछिये। अपने आपसे पूछिये कि आप स्वयं वह बालक क्यों नहीं हैं?

झाँकी-2 (दीन-बन्धु)

महाराजाधिराज की जय। कोशल सम्राट की जय। राजसभा के द्वार से शब्द आया और श्री पवनकुमार चौंके। यह अयोध्या के किसी नगरजन का स्वर नहीं, प्रजाजन का नहीं, प्रतिदिन आने वाले सुर-सिद्ध, ऋषि-मुनियों में किसी का नहीं और प्रभु तो सिंहासन से उठते जा रहे हैं। साकेत का दिव्य सिंहासन-उसकी ज्योति शतशत ज्योत्सना से भी अधिक उज्ज्वल और अमृतस्पन्दी चन्द्रोज्ज्वल मौक्तिक झालरभूषित श्वेतच्छत्र के नीचे भगवती भूमितनया को वामांग में सादर बैठाये मर्यादा पुरुषोत्तम उस पर आसीन हैं। भरतलाल पृष्ठभाग में छत्र-रक्षक बने खड़े रहें। दोनों पार्श्वों में कुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न के करों में व्यजन एवं चामर है। पादपद्मों के पीठ के समीप साज्जलि बैठे केसरी कुमार सहसा उठ खड़े हुए। महर्षिगण, मुनिगण, सिद्धगण-सब अपने दिव्यासनों पर चौंके। लोकपालों में जिन्होंने अभी प्रभु के चरणों में प्रणिपात नहीं किया था और अपने क्रम की प्रतीक्षा में पंक्तिबद्ध साज्जलि, नतमस्तक उपहार लिये विनीत भाव से खड़े थे-सबने विस्मय से सिर उठाया। 'कौन? कौन आया?' इन्द्र, वरुण, यमादि भी जहाँ प्रमाण के लिए पंक्तिबद्ध प्रतीक्षारत हैं, महर्षि एवं सिद्धजन भी जहाँ संकोचपूर्वक प्रवेश करते हैं, उन निखिल लोक-नायक परात्पर प्रभु को भी विचलित कर देने वाली वाणी किसकी है? प्रभु उठे और दौड़ते-से चले द्वार की ओर। धनुष छूट गया। करस्थ बाण स्कन्ध के उत्तरीय के साथ भूमि पर गिर गया। पीछे रह गयीं महाशक्ति विदेह नन्दिनी। प्रभु तो दौड़ पड़े हैं। पवनकुमार पीछे स्थिर रह गए। कोई दुर्बल, मलिन-वस्त्र कृशकाय दीन सम्मुख गिरा- 'दीनबन्धु! पाहि!' वह गिरा और यह झुका सम्राट का महामुकुट, ये झुकी विशाल भुजायें और वह तो इन भुजाओं में ही समा गया।

कौन? व्यर्थ प्रश्न है। दीनबन्धु के बन्धुओं की भी कोई संख्या है। वह तो श्रीवत्सांकित वक्ष में सिर छिपाये शिशु-सा दबा है अंक में और कमलदल-लोचनों के कृपा-बिन्दु उसके केश आर्द्र कर रहे हैं। आप स्वयं वह तो नहीं हैं?

झाँकी-3 (गजेन्द्र मोक्ष)

एक झाँकी गजराज को मिली थी। क्षीरोदधि के मध्य त्रिकूट के शिखर पर स्थित महासरोवर में गजेन्द्र जब ग्राह से संघर्ष करते-करते थक चुके, डूबते गजेन्द्र ने पुकारा था- 'नारायण!' और दिव्य झाँकी मिली। गजेन्द्र को क्षणार्ध के लिए मिली यह झाँकी। वे मरणासन्न थे, आर्त थे। झाँकी का आनन्द लेने की स्थिति में नहीं थे और श्रीहरि पलक झपकते गरुड़ से कूद पड़े थे।

स्वस्थ मन आप यह झाँकी अपने अन्तर में अवतीर्ण होने दें।

क्यों?

इसलिए कि हम आप सब गज ही हैं। सब गतिशील हैं। सब जन्म-मरण के चक्र में पड़े हैं। सब भव समुद्र में डूब रहे हैं और सबको काल रूप महाग्राह ने पकड़ रखा है। इससे अपने प्रयत्न से कोई छूट नहीं पाता। अभाग्य यह कि आर्त होकर उस चक्रपाणि को हम पुकार भी नहीं पा रहे। पुकारने पर वह आने में विलम्ब करे, ऐसा हुआ नहीं करता। वह आता ही है। अपने हृदय-गगन में उसे आविर्भूत कीजिये!

निर्मल नील गगन में जैसे एक साथ कोटि-कोटि सूर्य उदित हो गये हो, किन्तु शत-सहस्र चन्द्रज्योत्सना के समान स्निग्ध-शीतल प्रकाश है वह। ऐसा लगता है कि वह प्रकाश ही घनीभूत होकर गरुड़ बन गया है। स्वर्ण-पीत महापर्वताकार गरुड़ और उनके पक्ष-सञ्चालन से सामवेद के स्तोत्र-मन्त्र सस्वर उच्चरित होते हैं। कहना कठिन है कि पहले साम के स्वर कर्ण में पड़े अथवा ज्योति के दर्शन हुए।

तीक्ष्ण तुण्ड, विकराल पञ्जों वाले गरुड़ की पीठ पर उनके आराध्य बैठे हैं। उन नवीन नीरद श्याम के अरुण वर्ण सुकुमार श्रीचरण और उनकी कटि में पहना पीताम्बर परिधान—जैसे गरुड़ की ज्योति को मन्द करती विद्युत श्रीहरि की कटि में स्थिर लिपट रही है।

चरणों के नूपुर, कटि की मणिमेखला, करों के कंकण, वक्ष की रत्नमाला भुजाओं के अंगद और सिर का मुकुट, कर्णों के कुण्डल, सब अद्भुत ज्योतिर्मय रत्न; किन्तु कण्ठ में दमकते रागारुण कौस्तुभ की कान्ति सर्वोपरि है।

वन-माला के मध्य से झाँकता-सा श्रीवत्स चिह्न और भृगुलता तो उस विशद वक्ष को मानों मुद्राङ्कित कर रही है।

हरिचन्दन-चर्चित, तुलसी-दाम-मण्डित वक्ष, कम्बुकण्ठ विशाल बाहुआर्त जनों को अभय के परामाश्रय ये श्रीहरि के विशालबाहु और करों में निखिल लोकललाम लीलापद्म, हंसोज्ज्वल शंख जैसे सत्वगुण स्वयं सघन होकर करों में आ गया है।

गदा—कौमोदकी की छटा दूसरी है असुररक्त से अरुण, भक्तभय हारिका यह गदा श्रीहरि को भगवती लक्ष्मी के समान प्रिय है। श्री भक्ति-परिपोषण के कारण हरि की दयिता है तो कौमोदकी भक्त-भय-भंजन के कारण भगवान् की प्रिया है। आततायी असुरों के लिए भीषणतमा यह महागदा है।

चक्रपाणि के करों का सहस्रार महाचक्र सुदर्शन भक्त की दृष्टि पथ में सौम्यः तेजा है। वैसे वह प्रचण्ड प्रलयाग्नि ज्वालावृत्त रहा करता है। महाकाल भी काँपता है उनके अदम्य तेज को देखकर।

विशाल भाल पर घिरी आती घुँघराली अलकें। चारुता को सप्राण करता तिलक, सघन बंक भृकुटी और विशाल, रतनारे लोचन-कृपा का अपार पारावार लहराता है इन दृग्गों में।

स्मित-शोभित अरुणाधर, फहराता पीत दुकूल। नेत्रों से वर्षा हो रही है। अनन्त करुणा की। छलकता स्नेह-सिन्धु अधरों के स्मित और प्रभु में आतुरता है, वेग है, अभयदान की त्वरा है।

भव-भय-भंजन के लिए उठती-उठती कसमसाती जैसी महागदा कौमोदकी, घर-घर घूमता प्रचण्ड तेजोमय महाचक्र भुजा में-श्रीहरि नित्य गरुड़ारूढ़, नित्य समुद्यत आर्तपरित्राण के लिए।

श्रीनारायण के ये पादपद्म, यह सुधास्रावी नयन सरोज, यह शाश्वत संजीवन स्मित.....

झाँकी-4 (पार्थ सारथी)

अबका नहीं, आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व का कुरुक्षेत्र। न ग्राम और न नगर। जहाँ तक दृष्टि जाय केवल रथ, हाथी, पैदल सैनिकों का अपार समूह ही दृष्टि पड़ता है। कहीं कोई वृक्ष, कोई झाड़ी नहीं। केवल मनुष्यों

की—सैनिकों की भीड़। सबके सब कवच पहिने। धनुष, भल्ल आदि लिए किन्तु शान्त। सब प्रहार को उद्यत और सेनापति के आदेश की प्रतीक्षा में।

बहुत थोड़ा—लगभग एक फर्लांग का अन्तर है दोनों सेनाओं के मध्य में और मध्य में दोनों ओर अग्रिम पंक्ति में केवल रथ हैं। विभिन्न रङ्गों की ध्वजायें उड़ाते रथ और उनमें जुते भिन्न-भिन्न रङ्गों के अश्व।

रथों की यह दोनों ओर सुविस्तृत पंक्तियाँ; किन्तु इतने रथों में—इन सहस्र-सहस्र रथों में एक रथ सबसे भिन्न, सबसे विचित्र है। सबसे पृथक है वह। दोनों दलों के मध्य में वह एक ओर से चलता आया और अभी-अभी रुक गया है। दोनों ओर के सभी लोगों के नेत्र रुक गये हैं उसी रथ पर।

ऐसा क्या है उस रथ में? क्या नहीं है, यह पूछिये। उस रथ में सब कुछ तो विचित्र है। वह सब रथों से उच्च सबसे अधिक कान्तिमान् और उसके अश्व हैं हरे रङ्ग के। ऐसे अश्व जो पृथ्वी में न देखे, न सुने। उसके ध्वज पर ही वानर चिह्न नहीं है, ध्वज दण्ड से टिका एक रक्तमुख, स्वर्णपीत रोम महाभयङ्कर वानर बैठा है उस पर। उस वानर की ओर देखते ही प्रतिपक्षी शूरो के प्राण सूखने लगते हैं।

उस रथ का रथी—दोनों सेनाओं में एकमात्र वही रथी है जो प्रहारोद्यत नहीं है। वह धनुष रथ में डालकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया है। उसके नेत्रों में आँसू हैं। उसने हाथ जोड़ रखे हैं और अपने सारथी की ओर बड़े कातर भाव से देख रहा है।

उस रथ का सारथि—वह त्रिभुवनसुन्दर सारथि भी क्या भूलने योग्य है। एक हाथ में अश्वों की लगाम और एक में चाबुक लिए, रथी के समान ही सर्वाङ्ग कवच से ढके, रथी के समान हो दीर्घदृग, नवजलधर श्याम वह सारथि, वह कुछ तिरछा घूमा मुख पीछे रथी की ओर किये कुछ कह रहा है।

कुछ कह रहा है वह नन्दघोष रथ का सारथि अपने गाण्डीवधन्वा रथी से। उसके पतले लाल-लाल अधर हिल रहे हैं। उसके पद्मपलाश लोचनों में अनन्त गाम्भीर्य, अपार करुणा और.....पता नहीं क्या-क्या है दृग्गों में। वह कुछ कह रहा है।

झाँकी-5 (पक्षी की पीर)

‘राम! श्रीरामचन्द्र!’ सबके सब चौंके इस स्वर से। अत्यन्त व्याकुल चक्रवर्ती महाराज दशरथ जी ने भी इधर-उधर देखा। महारानी कैकेयी ने अपने ओष्ठ दाँतों से दबा लिये। उनकी दृष्टि कठोर हो गयी, किन्तु इस समय कुछ बोलना उन्होंने उचित नहीं माना।

‘श्रीरामभद्र! तुम आज कैसे हो गये हो? कहाँ जा रहे हो?’ यह स्वर्ण-पिंजड़े में पाला महारानी कैकेयी का तोता बोल रहा है। बड़ा प्यार है—रहा है इस पर महारानी का। श्रीराम को वल्कल पहिने वन में जाने को उद्यत देखकर वह बोल पड़ा है।

श्रीराम पर शैशव से महारानी कैकेयी का बड़ा स्नेह रहा है। वे उनकी गोद में ही पले हैं। इस भवन में ही भाइयों के साथ घुटनों चलते, किलकते वे बढ़े हैं। यहीं वे प्रायः रहते आये हैं। माता कौशिल्या के भवन में तो वे बहुत कम गये—रहे हैं। इस तोते से श्रीराम का बड़ा स्नेह है। इसका भी अपने रामचन्द्र के बिना जैसे काम ही नहीं चलता। उनके हाथ से दाना, फल या कुछ मिले तो इसका पेट भरे।

आज का श्रीराम का वल्कलधारी वेश! महारानी कैकेयी का यह रूक्ष रूप, महाराज की यह विह्वल दशा। तोते ने आज यह सब ऐसा देखा है—अयोध्या ने ही अकल्पित देखा है, तो यह बेचारा तो पिंजड़े में बन्द पराधीन पक्षी है। लेकिन श्रीराम तो कहीं जा रहे हैं, साथ में छोटे कुमार और वधू श्रीजानकी भी जा रही हैं। भय, आशंका पता नहीं क्या-क्या था उसके नन्हें हृदय में। वह अब तक मौन था। अब उससे नहीं रहा गया।

‘हम वन को जा रहे हैं अरुणग्रीव!’ श्रीराम का स्वर स्वस्थ है, किन्तु उसमें जैसे असीम कृपा सागर हिलोरे ले रहा है।

‘तुम कब लौटोगे?’ तोते ने पंख फड़फड़ाये व्याकुल होकर।

‘चौदह वर्ष में’ श्रीराम बोले; किन्तु इस बार उनका स्वर भी भारी हो गया।

‘मैं तब तक जीऊँगा?’ तोते ने अकस्मात् अकल्पित पूछा। ‘मुझे तुम अपने हाथ से सरयू में डालोगे न? अभी मरूँ मैं? तनिक रुकोगे?’

जैसे सबके हृदय फट जायँगे। यही प्रश्न तो आज प्रत्येक हृदय श्रीराम से

कर रहा है। लेकिन श्रीराम तोते के पिंजड़े के पास जा खड़े हुए—‘तुम तब तक जिओगे!’ यह स्वस्थ, सबल, निष्कम्प स्वर! यम का या मृत्यु का साहस है कि वह तोते को मार दे। श्रीराम माता से आज्ञा लेकर उसे बड़ी माँ के भवन में भेजकर जा रहे हैं तो वह जीवित रहेगा।

झाँकी-6 (वीणा-वादिनी)

‘या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता,
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।’

ध्यान-ध्यान और वन्दना, जो भी कला, विद्या के क्षेत्र में कुछ करना चाहता है—कुछ पाना चाहता है, उसे विद्या की उन शुभ्र ज्योतिर्मयी अधिदेवता के श्रीचरणों का ध्यान तो करना ही होगा।

अनन्त अपार दुग्धार्णव। उज्ज्वलता-शुभ्रता का असीम विस्तार और उसमें तैर रहा है एक विशाल श्वेत हंस। उन दूध की लहरों पर जैसे एक बहुत बड़ा नवनीत का लोंदा हंसाकार बना तैर रहा है।

हंस के समीप ही खिला है एक बहुत बड़ा सहस्रदल पुण्डरीक। पुण्डरीक अर्थात् श्वेत कमल। यह श्वेत पद्म कुछ अधिक उज्ज्वल है उस असीम दूधराशि से, अन्यथा दूध के समुद्र में श्वेत पद्म भला दीख सकता था।

श्वेत पद्म की भास्वर छटा—यह इसलिए कि उस पर एक ज्योतिर्मयी आसीन हैं। वे श्वेत-पद्मासना—उन्होंने शुभ्र वस्त्र धारण किया है। उनके श्रीअंग पर मुक्ता एवं हीरक के उज्ज्वल आभरण हैं। उनका वस्त्र, उनके आभूषण जैसे ज्योति ही घनीभूत होकर वस्त्राभरण बन गयी है।

वे शुद्ध सत्त्वमयी—उनका श्रीअंग, उस श्रीअंग की छटा से सुधाकर ने ज्योत्सना उधार पायी लगती है। वे मृदिमा, माधुर्य, शुभ्रता, ज्योत्सना की अकल्पनीय भुवन सुन्दर महादेवी।

दूध समुद्र, श्वेतपद्म, वस्त्राभरण जैसे सब उन भगवती के श्रीअंग की कान्ति से शुभ्र बने हैं। वे वीणा, पुस्तक धारिणी, स्फटिक माला, वर मुद्रा भूषिता, चतुर्भुजा, विश्ववरदा!

विश्व ने उनके श्रीअंग से शुभ्रता का प्रसाद पाया है। उनकी स्वर्णिम सघन केशराशि, अञ्जन रंजित खञ्जन दृग, घनकृष्ण भ्रूवलनी और अधर,

कर, चरण की अद्भुत मृदुल अरुणिमा, प्रकृति के त्रिगुण उन ब्रह्मविद्या के श्रीअंग की छाया ही तो हैं।

आलोकित होता है मानस और उस मानस का आलोक जब उच्छलित होकर जगत को अपना उत्स देता है—युग-युग से मानव उसी उत्स की वन्दना करता आया है। प्रतिभा—यह उन भगवती शारदा की कृपा का प्रसाद है। वे जब किसी के मानस में पधारती हैं, उनके स्मित का कणांश प्रतिभा का पारावार बनता है।

झाँकी-7 (महालक्ष्मी)

सरसिज सुधर कलेवर, सरसिज हस्ता शील स्नेह मयी।

श्री वन्दे सानुकूला वरदा नित्या सिन्धुसता ॥

सौकुमार्य, सौन्दर्य, सौमनस्य और समस्त सम्पदा उनकी कृपा से ही सुर भी प्राप्त करते हैं। वे श्री—अनन्त महिमामयी जगज्जननी—अकल्पनीय वात्सल्य झरता है अहर्निशि उनके दृगों से—उनके अंक से।

राशि—राशि अनुराग जैसे उनके पाटलदलारुण कलेवर के रूप में घनीभूत हुआ है। अथवा उनके श्रीअंग को शोभित करने वाले अरुण कौशेय की कान्ति का कण प्रसाद ही ऊषा प्रतिदिन प्रातः जगती के भाल का कुंकुम तिलक बनाया करती है।

वे परिपूर्ण विकच पद्मस्थिता, पद्महस्ता, नित्य सुप्रसन्न—सुर, असुर—सिद्ध सभी उनकी कृपा कटाक्ष के सदा से भिखारी रहे हैं।

वे अनन्तशायी के श्रीचरणों में अतिशय अनुराग से सुस्थिर समासीना—अपने ही अन्तःकषाय से अव्यवस्थित मानस—मानव ने उन्हें चपला कहा।

वे वात्सल्यमयी—उनका ध्यान; शिशु माता का क्या ध्यान करेगा?

मन के कल्पना—करों से भी स्पर्श करने में जहाँ संकोच होता है, उनके वे मृदिमा के सार सर्वस्व, किसलय दल कोमल लाल—लाल, ज्योतिर्मय श्रीचरण, उन चरणों की कान्ति ही तो अनादि काल से सचराचर को रागारुण बनाये है।

चरण—श्रीचरण—चरणतल, वे कोमल लालिमा की वर्षा करते चरण तल—भक्तिपूत हो जाता है वह मानस जिसमें उन चरणों की रश्मि का आभास भी आ पाता है।

महालक्ष्मी—रमा—ऐश्वर्य, आह्लाद, सम्पत्ति, समृद्धि की वे परमाधिदेवी। उनकी कृपा कोर भला किसे नहीं चाहिए और वे ही कब कृपा—कृपण हुई हैं। उनका वरद कर उठा है, नित्य उठा है अपने शिशुओं को स्नेहाशीष देने और उन करों से जो कान्ति झर रही है—लौकिक—पारलौकिक समस्त ऐश्वर्य तो उन कर—कान्ति का सीकर मात्र है।

वे अनन्त ऐश्वर्य एवं अनन्त प्रसादमयी!

झाँकी-8 (निषाद के सखा)

‘महाराजाधिराज की जय!’ उल्लास, आत्मीयता, उत्साह—पता नहीं क्या—क्या है इस जय ध्वनि में।

कोई चौंका नहीं। मर्यादा—पुरुषोत्तम के परिकरों में कोई नहीं जो ऐसी बातों से चौंके। श्री रघुनाथ जी के समीप—वे राज सभा में सिंहासनासीन हों या अपने अन्तःपुर में हों, अकस्मात्, बिना पूर्व सूचना दिये कोई आ जाय तो भी श्री राघवेन्द्र के सेवक चौंका नहीं करते। वे जानते हैं कि उनके स्वामी केवल उनके ही नहीं हैं—पता नहीं कितने हैं जो अयोध्या को अपना मानते हैं।

ऋषि—मुनि तथा विप्रवर्ग के आगमन पर कहीं प्रतिबन्ध नहीं है। श्रीराघव के सखाओं पर प्रतिबन्ध भला लगावेगा कौन और विश्व में पता नहीं कहाँ—कहाँ, कितने भावनापूत प्राण हैं, वे अयोध्या आ जायें तो उनका अनुग्रह; अन्यथा उनका आह्वान तो अयोध्यानाथ को उन तक पहुँचने के लिए अर्धरात्रि में भी विवश करने को समर्थ है।

अयोध्या की राजसभा—लोकपाल भी वहाँ अवनत वदन सेवकों के साथ ही खड़े होते हैं। श्रीराघवेन्द्र महारानी मैथिली के साथ रत्नासनासीन है। मौक्तिक झालरों से झिलमिलाता हुआ श्वेत अमृतस्यन्दी छत्र सुशोभित है। पार्श्वों में लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न के करों के चामर तनिक विरमित हुए। पृष्ठभाग में व्यजन लिये भरतलाल की दृष्टि भी उठी और किञ्चित् मुख घुमाकर पाद के समीप बैठे श्रीमारुति ने भी द्वार की ओर देखा।

कज्जल—कृष्ण वर्ण, प्रलम्ब वपु, वज्रपुष्ट शरीर निषादराज बद्धाञ्जलि, नमित सिर, करों में कुछ—सम्भवतः कोई दुष्प्राप्य वन्य फल या औषधि

उपहार स्वरूप लिये राजसभा के द्वार पर ही ठिठक गये हैं।

ये राम सखा—इन्हें द्वारपाल केवल अभिवादन कर सकते हैं। सब जानते हैं कि महारानी के अन्तःपुर में भी इनके पहुँचने की पूर्व सूचना अनावश्यक मानी जाती है; किन्तु हैं ये कि अपने शील—अपने संकोच में सदा दूर से ही भूमि पर दण्डवत् पड़ते हैं।

‘निषादराज! मित्र!’ निषादराज राजसभा के द्वार पर दण्डवत् पड़ें, इससे पूर्व तो सम्राट् जैसे सिंहासन से कूदकर दौड़े और उन्होंने भर लिया अपनी विशाल भुजाओं में निषादराज को। परस्पर अंकमाल आबद्ध ये निषादराज गुह और श्री रघुनाथ!

झाँकी-9 (माँ का वात्सल्य)

एक स्वप्न देखा मैंने—आप जागते हुए मन से यह स्वप्न देख लें—

पर्वत पर टहलने निकला था। एक स्थान पर एक शिला अच्छी लगी तो बैठ गया। शिला बड़ी थी। सामने नीचे नेत्र किये जाएँ, तब बहुत नीचे फैला मैदान है। चीड़ के वृक्ष पीछे हैं। सम्मुख के पर्वत-शिखर नीचे वाले मैदान के उस पार दूर हैं।

‘माँ!’ बैठकर दृष्टि आकाश की ओर उठाकर सहज भाव से पुकार उठा। क्यों पुकार उठा, पता नहीं।

निर्मल नील गगन स्वच्छ था। सहसा एक ज्योति प्रकट हो गयी उसमें। अद्भुत ज्योति थी वह। उसे न सूर्य के समान प्रखर ज्योति कह सकता हूँ और न चन्द्रमा के समान कोमल ज्योति।

ज्योति में एक आकृति उभरी। विशालकाय सिंह था। इतना बड़ा सिंह संसार में कभी नहीं हुआ होगा। बड़े-से-बड़ा हाथी भी उसके सामने बच्चा लगेगा। सिंह के पीले केश, गर्दन की केशर—सबसे प्रकाश झर रहा था। सिंह के नख और दाँत जैसे चन्द्रमा के टुकड़े करके बनाये गये थे। उसकी लाल जीभ कितनी कोमल थी। मन में आया कि सिंह समीप होता तो उसे पुचकारता, थपथपाता।

अचानक सिंह की पीठ पर एक और मूर्ति प्रकट हो गयी। अष्टभुजा,

रक्ताम्बरा, दिव्याभरणभूषिता वह त्रिपुरसुन्दरीमूर्ति वर्णन से बाहर है। पूर्णिमा का चन्द्रमा फीका लगेगा उनके पदनखकी कान्ति के सम्मुख। उनका वह अरुण चरण कितना मृदुल, कितना अरुण था, इसके लिये कोई उपमा नहीं हैं।

केवल चरण-दर्शन करके मुख की ओर दृष्टि गयी तो वहीं रह गयी। मन्दस्मित था उन निखिलेश्वरी के श्रीमुख पर और उनकी दृष्टि में स्नेह का—वात्सल्य का समुद्र हिलोरे ले रहा था।

‘माँ!’ मैंने पुकारा नहीं। हृदय ने पुकारा होगा; क्योंकि यही सचमुच माँ हैं, यह हृदय पुकार उठा था।

वह मूर्ति समीप आने लगी। सिंह चल नहीं रहा था। बीच की दूरी स्वयं घट रही थी। मूर्ति समीप आती गयी और मैं खोता चला गया। मैं कब खड़ा हो गया, यह मुझे ही पता नहीं।

मूर्ति समीप आ गयी। सिंह मेरे बैठने की शिला से सटकर खड़ा हो गया था। मेरे सामने केवल चरण था, उन सिंह-वाहिनी का मणि के आभूषण से भूषित मृदुल अरुण ज्योतिर्मय चरण।

‘माँ!’ मैंने यह चरण अपने दोनों हाथों में धीरे-से लिया और उन पर मस्तक रख दिया धीरे-से ही। मेरे नेत्र बन्द हो गये थे।

‘पुत्र!’ कोई अमृत हो तो वह स्वर उसे भी जीवन देने वाला था। एक करका अतर्कित आनन्दपूर्ति स्पर्श सिर पर हुआ और मैं जाग गया।

झाँकी-10 (गुरु पूर्णिमा)

चारों ओर जहाँ तक दृष्टि जाय, एक ही रंग है श्वेत। गिरि शिखर हिमाच्छादित हैं। इस शुभ्रता-सत्त्व के मध्य एक वट-वृक्ष है—खूब सावन और एकाकी। के मूल में बैठे हैं जगत् के आदिगुरु।

कुन्द-गौर, त्रिलोचन, गंगाधर, चन्द्रभाल, नीलकण्ठ, अहिभूषण, मुण्डमाली, कपाली, त्रिशूली प्रभु कृत्तिवास पद्मासन में बैठे हैं और पद्मपाणि उनकी गोद में पड़े हैं।

भूत-प्रेत-पिशाच, डाकिनी-शाकिनी-योगिनी आदि सबका निर्वाह है इन श्री चरणों में, किन्तु ये आशुतोष प्रलयङ्कर हैं। त्रिभुवन की भस्म करके विभूति धारण करते हैं। ये।

आप में उत्कट वैराग्य है और दृश्य मात्र का बाध करने वाला ज्ञाननेत्र अभीष्ट है तो ध्यान कीजिये आज इन शशाङ्कशेखर का। ये विरक्त साधक के आदिगुरु—वैराग्य के परम आदर्श हैं।

साथ ही स्मरण रखिये कि शिवगण भूत-प्रेत हैं। प्रमत्त को वे छोड़ते नहीं और अप्रमत्त के वे समीप नहीं जाते।

कल-कल करती अलकनन्दा और हर-हर झरती सरस्वती का संगम-तीर्थ।

चारों ओर कँटीली बेर की झाड़ियाँ उग रही हैं। यह बदरीवन है। इसमें कुछ टेढ़े-मेढ़े ऊँचे-कँटीले पेड़ हैं शमी के। शम्याप्रास नाम है इस स्थान का।

सरस्वती के तट पर पूर्वोन्मुख कुशासन पर विराजमान हैं एक कृष्ण वर्ण, श्वेतकृष्ण, सुगठितकाय दिव्य मूर्ति।

आज गुरुपूर्णिमा के पावन अवसर पर वेदों के व्यास-कर्ता, सम्पूर्ण पुराणेतिहास के प्रणेता परमगुरु भगवान् कृष्णद्वैपायन का ध्यान-पूजन न किया जाय तो व्यास-पूर्णिमा से आपको कुछ मिलेगा ?

अलकनन्दा—भक्ति की धारा और सरस्वती—ज्ञान की धारा के संगम पर पहुँचना है तो शास्त्र की कटीली झाड़ियों एवं कर्म के शमीकुञ्ज को छोड़ा नहीं जा सकता।

शास्त्र, सत्कर्म एवं श्रद्धा का समन्वय ही व्यास की वाणी का सन्देश हृदय तक पहुँचावेगा।

कैलास—विशुद्ध सत्त्व, बदरी वन—सत्त्वोन्मुख, रजोगुण और तमोगुण—जीवन का कुरुक्षेत्र।

कौरव और पाण्डवों की सेना शस्त्र-सन्नद्ध खड़ी है। शंख बज चुके हैं अब दोनों दलों के मध्य खड़ा है नन्दिघोष रथ। उड़ रही है उस पर वानर-ध्वजा; उसका रथी गाण्डीव-धन्वा धनुष डाले, हाथ जोड़े, साश्रुनयन बैठा है।

हरिद्वर्ण अश्व आतुर हैं आगे बढ़ने को; किन्तु उनकी रश्मि तथा चाबुक बायें हाथ में दृढ़ता से सम्हाले मयूर मुकुटी पीताम्बरधारी पार्थ-सारथि ज्ञानमुद्रा से संकेत करता गीता का अद्वितीय उपदेश कर रहा है।

यह जगद्गुरु—क्या चिन्ता है कि इन्द्रिय अश्व बहुत चञ्चल हैं। प्रग्रह-मन इसके हाथ में दे दो और बस। जीवन सत्-असत् के संग्राम में उलझ गया है तो भी क्या! इस जगद्गुरु से केवल एक बात कहिये—‘करिष्ये वचनं तव।’

झाँकी-11 (गुरु-दीक्षा)

उत्तुङ्ग हिमशिखर मस्तक उठाये खड़े हैं चारों ओर। उनके मध्य केवल एक वटवृक्ष है—योजन विशाल, अत्यन्त सघन वटवृक्ष और उसकी जटाएँ स्थान-स्थान पर लटक रही हैं।

वृक्ष पर कोई पक्षी—कोई भ्रमर तक नहीं। भूमि में कहीं कोई क्षुप, लता या तृण नहीं। एक वर्ण श्वेत धरा में और दिशाओं में भी—जैसे सात्विकता के इस साम्राज्य में रजस-तमस आने का साहस नहीं पा सके हैं।

कोई शिवगण समीप नहीं हैं। वृषभ है—वट मूल की वेदिका से कुछ दूर बैठा वृषभ जैसे एक विशाल हिमशिला वृषभाकार विराजमान हो। उसके कर्ण-पुच्छ में कहीं कोई गति, कोई कम्प नहीं।

वटमूल में वेदिका पर व्याघ्राम्बरपर प्रभु विराजमान हैं—निखिल लोक के ज्ञानदाता परम गुरु। पद्मासनासीन प्रभु के पद्मारुण पादतल के समीप ही विकच पद्मपाणि द्वय हैं।

श्वेताहि नद्ध गजचर्म कटि में बँधा है। स्फटिक धवल श्रीअंग भस्म-भूषित होकर अपना अतिशय तेज सहा बना रहा है। नागयज्ञोपवीत, नीलकण्ठ, त्रिनयन, चन्द्रमौलि सुप्रसन्न हैं। वाम कर में निखिल ज्ञान ध्वनि का उद्गम डमरू है और दक्षिणोर्ध्व कर ज्ञानमुद्रा बनाये हैं।

प्रभु किञ्चित् वामाभिमुख वामपार्श्व में आसीना शैलेशनन्दिनी को उपदेश कर रहे हैं। सिन्दूरारुण श्रीमूर्ति, पाटल वस्त्र, श्रद्धाभरित-दृग जगज्जननी—शिशुओं पर नित्य सदया देवी इन्हीं भवाटवी में भटकते अपने अबोध बालकों के कल्याणार्थ तो अपने आराध्य से प्रायः पथ-पृच्छा किया करती हैं।

प्रभु का उपदेश—परमेश्वर की वह परा वाणी तो विरमित नहीं हुआ करती। भगवती आद्या का वह श्रवण कहीं सीमित होना तो नहीं जानता। माता का वैभव है, वह शिशु का स्वत्व नहीं है, यह कहने का साहस कौन करेगा।

जगद्गुरु शिव का वह सहजोपदेश—आपके प्राण सुनते हैं उसे? अन्तर्देश में समाहित मानस महावाणी की ध्वनि से धन्य होता है। यही गुरुदीक्षा—यही वास्तविक गुरु-पूजा है।

झाँकी-12 (गुरु-पूजा)

आज गुरु-पूर्णिमा है। ब्रज के गोप-बालक गोचारण के लिए वन में आये तो कन्हाई ने सबसे कह दिया—‘मुझे आज ढेर सारे पुष्प चाहिए।’

सबके सब बालक पुष्प एकत्र करेंगे तो पुष्पों की बड़ी राशि तो एकत्र हो ही जायगी। एक शिला पर पुष्पित कदम्ब के नीचे श्याम ने पुष्प-राशि सजाई और दाऊ का हाथ पकड़ा—‘दादा! तू इस पर बैठ जा!’

क्यों?’ दाऊ कदादिच ही कभी पूछते हैं। उनका यह चपल अनुज जो कहे, उसे बिना पूछे करते रहना इनका स्वभाव है; किन्तु आज पूछ लिया।

‘आज गुरु-पूजा का दिन है।’ कन्हाई बोला—‘हम सब तेरी पूजा करेंगे।’

‘हम सब दादा की पूजा करेंगे।’ अब सब बालकों में उत्साह उमड़ा—‘यह हम सबका गुरु।’

है किसी महापण्डित में साहस कि कह सके—‘ये अनन्त निखिल सुरासुर के परमगुरु नहीं हैं?’

दाऊ दादा को पता है कि अब उन्हें चुप-चाप उस सज्जित पुष्प-राशि पर बैठ जाना है। चल पड़ी उनकी पूजा। बालक माल्य-ग्रन्थन, धातु-मंडल और दादा का श्रृङ्गार करने में लग गये, आज की इस गुरु-पूजा का पुरोधा तो कन्हाई अपने आप बन गया है।

कन्हाई को वैसे तो कोई बात दो क्षण स्मरण नहीं रहती; किन्तु इसे कभी-कभी कोई धुन चढ़ती है और वह धुन पूरी हुए बिना तो उतरने से रही। परसों त्रयोदशी को सबेरे उठते ही इसे पता नहीं कैसे धुन चढ़ गयी। इसने मैया से पूछा—‘मैया री! गुरु कौन होता है?’

‘लाल! अपनी मांसे पूछ लेना।’ मैया अपने इस नटखट की ऐसी बातों में पड़ा नहीं करती और सबेरे-सबेरे मैया को अवकाश भी कहाँ। अतः उसने कह दिया—‘मुझे तो पता नहीं।’

‘माँ! गुरु किसे कहते हैं?’ कन्हाई ने माँ रोहिणी का हाथ पकड़ा।

‘जो अपने को कुछ सिखलावे वह गुरु; माँ ने सीधी बात कह दी।

‘उहूँ’ कन्हाई ने अपना अलकों से भरा मस्तक हिला दिया। उसे यह परिभाषा रुचि नहीं। मुझे तो सब सिखलाते ही रहते हैं। तोक भी मुझे कभी-

कभी सिखलाता है। भद्र तो दिन भर कुछ-न-कुछ सिखलाता ही रहता है।’

अब इन सबको कन्हाई गुरु कैसे मान ले।

‘मैं बतलाऊँ?’ भद्र अनेक बार बिना पूछे ही बतलाने लगता है। आज भी बतलाने लगा—‘जो बड़ा, वह गुरु।’

आपको इस अर्थ में कोई आपत्ति है?

‘बड़ा कौन?’ कन्हाई ने पूछा।

‘अपना धर्म।’ भद्र ने कह दिया—‘तू चाहे तो माप कर देख ले।’

श्री ब्रजराज बाबा का गजराज के समान उत्तुंग महावृषभ धर्म बड़ा हैं, इसमें मापने की आवश्यकता भला क्या है और ऐसा कौन-सा सफेद जटा दाढ़ी वाला वेदों का परम विद्वान है जो धर्म को तथा उसके स्वरूप वृषभ को गुरु स्वीकार करने में मस्तक हिला देगा?

धर्म गुरु है और धर्मस्वरूप महावृषभ धर्म भी गुरु है; किन्तु इस श्री ब्रजराज कुमार को आज यह गुरु नहीं चाहिए, अतः बाबा के पास दौड़ गये—‘बाबा! आपके गुरु कौन हैं?’

‘महर्षि शाण्डिल्य’ बाबा को इसमें कुछ सोचना नहीं था—‘वे हम सभी गोपों के गुरु हैं।’

‘आप परसों प्रातः उनकी पूजा करेंगे न?’ कन्हाई ने अनुरोध किया ‘मुझे भी ले चलना! मैं भी उनकी पूजा करूँगा। उनकी पूजा करके आकर तब गायों को वन में ले जाऊँगा।’

‘पर उनकी पूजा तो हम लोग दोपहर में करते हैं। बाबा ने बतलाया—‘प्रातः तो महर्षि अपने गुरुदेव की पूजा करने अपने योग बल से जाते हैं।’

‘महर्षि के गुरु कौन हैं?’ कन्हाई ने पूछा।

‘भगवान शंकर के महर्षि साक्षात् शिष्य हैं।’ बाबा ने बड़े स्नेह से समझाया।

‘आप आज महर्षि से प्रार्थना कर आओ।’ कन्हाई ने झट प्रस्ताव किया—‘‘वे अपने गुरुदेव को निमन्त्रण दे आवें वे गुरु-पूजा को यहीं आ जाएँ तो महर्षि और हम सब उनकी पूजा कर लेंगे।’

बाबा को इसमें आपत्ति तो क्या होनी थी। वे तो स्वयं उत्साह में आ गये और उन्होंने जब जाकर महर्षि से उसी दिन प्रार्थना की तो महर्षि ने सहर्ष उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। वे उसी दिन मध्याह्न में कैलास पहुँच गये।

‘नन्द ब्रज पहुँचना तो मेरा परम अभीष्ट है।’ सुनकर भगवन धूर्जटि ने कहा—‘किन्तु शण्डिल्य! अपने गुरुदेव की उपस्थिति में शिष्य किसी के द्वारा की गयी पूजा स्वीकार करे, यह विधान तुम करने वाले हो? तुम पाञ्चरात्रागम के आचार्य ऐसा विधान करो तो रुद्र तो औघड़ है। श्री ब्रजेन्द्र नन्दन के दर्शन के लोभ में यह इसे भी स्वीकार कर लेगा।’

‘आपके गुरुदेव?’ महर्षि तनिक चौंके।

‘रुद्र अहिर्बुध्न है, यह तुम्हें स्मरण नहीं?’ भगवान नीलकण्ठ ने कहा—‘तुम्हें भी यह बतलाना है कि नन्द-भवन में वही अनन्त इन दिनों स्वयं उपस्थित हैं।’

‘तुमको मर्यादा-विवश गोपों की तथा ब्रजराज कुमार की पूजा ग्रहण करनी पड़ती है।’ भगवान शिव ने अपने शिष्य को स्नेहपूर्वक समझा दिया—‘किन्तु मुझे ऐसे संकोच में डालने का आग्रह तुम्हें नहीं करना चाहिए।’

महर्षि शाण्डिल्य लौट आये। उन्होंने ब्रजराज बाबा को समझा दिया और बाबा तो महर्षि की बात कभी टालते नहीं।

‘तुम्हारे गुरु तुम्हारे ये दादा हैं।’ बाबा ने कन्हाई को कल ही पुचकार कर समझा दिया। महर्षि कहते हैं—‘तुम लोग इन्हीं की पूजा कर लो। भगवान शंकर फिर कभी अपने यहाँ अपनी इच्छानुसार आ जायँगे।’

‘अच्छ!’ कन्हाई ने भी बिना कोई हठ किये बाबा की बात मान ली। अब आज सबेरे यह सब सखाओं के साथ दाऊ दादा की पूजा में लग गया है। दाऊ समस्त गुरुओं के परम गुरु—आपको इसमें कोई आपत्ति है?

झाँकी-13 (चरण-चिह्नासक्ति)

महाराजाधिराज दशरथ जी के राजसदन की शोभा और वैभव का वर्णन मेरे वश का नहीं है। उनके अन्तःपुर के प्राङ्गण की बात कर रहा हूँ। स्फटिक का उज्ज्वल प्राङ्गण है महारानी कैकेयी के सदन का। ऐसा स्वच्छ जैसे बहुत निर्मल दर्पण हो। पूरे प्राङ्गण को सर्वथा रिक्त रखा गया है। राजकुमार क्रीड़ा करते हैं इस प्राङ्गण में।

अवध नरेश के चारों राजकुमार प्रायः साथ ही रहते हैं। वे प्राङ्गण में हैं तो सेविकाओं को भी इस ओर आने की आज्ञा नहीं है। स्वयं महारानी भी आड़ में-से ही अपने लालों के लीलावलोकन का आनन्द लेती हैं इन बालकों को

संकोच न हो, पूरी सावधानी इसकी वे रखती हैं।

दूर्वादल श्याम और स्वर्ण-गौर चारों कुमार लगभग एक आकृति के, एक-सी सज्जा-शृंगार में हैं। घुंघराली अलकें सुगन्धिसिञ्चित हैं। भालपर उन लटकती अलकों के मध्य कज्जलबिन्दु है। बड़े-बड़े लोचन अञ्जनमञ्जु हो रहे हैं।

कण्ठ में पतली हल्की रत्न-माला, कटि में रत्न-मेखला, कर्णों में कंकण, चरणों में नूपुर। चारो दिगम्बर हैं। चारो मणि-प्राङ्गण में आज घुटनों के बल चलने में लगे हैं।

श्रीराम तनिक आगे निकले। भरतलाल उनके पीछे हो लिये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न दोनों पार्श्वों में चल पड़े भरत के। रुनझुन नूपुर-किंकिणी की ध्वनि गूँजने लगी। लाल-लाल आठ कर्णों के कमल उस मणि-भूमि को सरकते भूषित करने लगे।

अरुण चरणतल आठ और आठो परम सुकुमार वज्र, अंकुश, पताका, सरोज सामुद्रिक सफल सनाथ हो गया उसी दिन इन आठ शिशु-चरणों के चिह्न का वर्णन करके।

लाल-लाल सरकते आगे चलते श्रीचरण श्रीराम के। भरत की दृष्टि चरणों पर ही है। वे चरणों के पीछे ही चले जा रहे हैं। पता नहीं क्या हुआ, श्रीराम तनिक रुके, एक पैर कुछ सीधा किया उन्होंने। पाद तल मणिभूमि में प्रतिबिम्बित हो उठा! ललककर लपककर भरत ने उसे प्रतिबिम्ब को पकड़ने के लिए दाहिना हाथ वहाँ रखा।

‘ॐ’ भरत को रोना नहीं आता; किन्तु उनके मुख से कुछ निराशा जैसी ध्वनि निकली।

‘अरे, क्या हुआ?’ श्रीराम मुड़कर बैठ गये। बोलना अभी किसी को आता नहीं। अनुज के मुख पर अपना नन्हा कमल-कर रघुनाथ ने रखा। जैसे पूछ रहे हों—‘तुम्हें क्या हुआ? क्या चाहिये तुम्हें?’

भरत का ध्यान अभी इधर नहीं है। वे भूमि में प्रतिफलित श्रीराम के चरणों की ही ओर देख रहे हैं। अपने करसे उसे पकड़ना चाहते हैं। प्रयत्न सफल होते न देखकर उनके बड़े-बड़े दृगों में अश्रु झलमलाने लगा है।

‘क्या हो गया है?’ पार्श्व से दोनों गौर कुमार भी आकर समीप बैठ गये हैं। वे भी झाँक लेना चाहते हैं कि उनके ये सौम्य नील अग्रज क्यों रोने-रोने

को हो उठे हैं।

‘तुम रोओ मत! मैं इसे पकड़ता हूँ।’ श्रीराम बोल तो नहीं सकते; किन्तु उनके मुख, नेत्र, हाथ सबकी भंगी यही कहने लगी है। अपने छोटे भाई के मुख की टुड्डी पर हाथ घुमाया उन्होंने और अपने चरण के प्रतिबिम्ब को पकड़ने झुके।

‘यह किसी के हाथ क्यों आता?’ अब चारों कुमार बारी-बारी से या साथ ही उस प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयास कर रहे हैं।

‘भरत रोने-रोने को हो गये थे और अब ये चारो सिर से सिर भिड़ाये कुछ नीचे मुख किये करने लगे हैं। क्या है वहाँ?’ माता कैकेयी दृष्टि, मन, प्राण सब इन बालकों में ही लगे रहते हैं। वे सशंक हो गयीं। कहीं राम या भरत के कोमल चरणों में कोई-धूलि-कण तो चुभ नहीं गया।

‘अरे क्या हो गया है तुम को?’ माता समीप आ गयीं अपने पुत्रों के।

श्रीराम ने मुख घुमाया। माता की साड़ी एक हाथ से पकड़कर खड़े हो गये। अब अपने हाथ के संकेत से भूमि दिखलाने लगे हैं। उनकी भंगी कहती है—यह हमारी पकड़ में नहीं आता। इसे तुम पकड़ दो!’

लेकिन कहाँ भाग गया वह लाल-लाल कमल जैसा पदार्थ? भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और श्रीराम भी भूमि को चकित देख रहे हैं। माता भी वहाँ कुछ देखना चाहती हैं। श्रीराम खड़े हो गये तो अब प्रतिबिम्ब कहाँ से दीखे।

झाँकी-14 (दयामय)

महाराजाधिराज मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथ जी रघुकुल के गुरु महर्षि वशिष्ठ जी के दर्शन करके गुरुदेव के आश्रम से लौट रहे थे। मध्याह्न स्नान-सन्ध्या का समय समीप था। इसलिए वह श्वेत रंग के चार अश्वों वाला तालध्वज रथ राजसदन की ओर न आकर सरयू तट की ओर मुड़ गया।

‘आर्य! अश्व रोके।’ अचानक सारथि को आदेश हुआ और संकेत मिलते ही रथ के अश्वों के पद निश्चल हो गये।

‘क्या हुआ?’ किसी ने पूछा नहीं; किन्तु श्री भरतलाल, लक्ष्मणजी, कुमार शत्रुघ्न सबकी दृष्टि पवन कुमार की ओर उठ गयी। ये हनुमान जी ही हैं जो अपने स्वामी के संकल्प को तत्काल समझ लेते हैं।

किसी को कुछ कहने-सुनने का समय नहीं मिला। श्री रघुनाथ रथ से

उतर रहे थे। सबको शीघ्र उतर जाना ठहरा रथ से। आज श्रीविदेहनन्दिनी साथ नहीं थीं। वे राजसदन में ही रह गई थीं।

भरत जी ने मुक्ता-झालरों से मण्डित श्वेत छत्र सम्हाला, लक्ष्मण और शत्रुघ्न अपने करों के चामर लिये पार्श्व में हो गये। सारथि सुमन्त्र मात्र रह गये रथ पर। उन्हें अश्वों को सम्हालना था और देखना था कि उनके आराध्य का उनके लिए क्या आदेश होता है।

श्री हनुमान जी ने कोई आतुरता व्यक्त नहीं की। वे शान्त गम्भीर सबके पीछे-पीछे चलने लगे। श्रीराम कहाँ जा रहे हैं, यह बात अब स्पष्ट हो गई थी।

सरयू तट पर निर्मल पुलिन में एक मुनिकुमार आसन लगाये ध्यानस्थ बैठे थे। गौरवर्ण, कपिशवर्णा उलझी जटायें और कटि में केवल कौपीन मात्र। पद्मासन से बैठे उनकी गोद में उनके हाथ ऐसे पड़े थे जैसे कमल का पुष्प हो।

मध्याह्न का समय, ग्रीष्म ऋतु, सरयू की रेणुका उष्ण होने लगी थी। मुनि कुमार का गौरमुख अरुण हो रहा था और उस पर स्वेदकण चमकने लगे थे।

श्री रघुनाथ ने पादुका धारण नहीं की थी, अतः सभी नग्न पद थे। मुनि कुमार तो ध्यानस्थ थे। चुपचाप उनके पीछे पहुँचकर श्रीराम तनिक पीछे घूमे और भरत के हाथ से श्वेत छत्र उन्होंने स्वयं ले लिया।

निखिल-ब्रह्माण्ड-नायक अपने हाथों में छत्र लिये मुनिकुमार के पीछे स्थिर खड़ा था। तीनों भाई और हनुमान स्तब्ध रह गये। जैसे पद भी संकोच से रुद्ध हो गये हैं। हलचल मच गई थी उस समय देवलोक में। महेन्द्र कह रहे थे—‘आज से पृथ्वी पर कहीं कोई तपस्वी, साधक, ब्राह्मण त्रेता के अन्त तक धूप में चले या बैठे, मेरे मेघों को सावधानी पूर्वक उस पर छाया बनाये रखना चाहिये।’

झाँकी-15 (सदाशिव की सदाशयता)

‘बाबा! तुम भूत-प्रेत क्यों साथ रखते हो? उसने भगवान् विश्वनाथ से अचानक पूछ लिया।

वह बहुत धृष्ट है और आप जानते ही हैं कि बालक सच्चे अर्थ में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होता है। बालक के लिए न कहीं मर्यादा है और न कहीं कोई प्रतिबन्ध। फिर ये गोलोक के बालक-कन्हाई के सखाओं की स्वच्छन्दता से तो लोकस्रष्टा विधाता भी हाथ ही जोड़ते हैं।

भगवान् गंगाधर आज गोलोक पधारे हैं। श्यामसुन्दर ने दौड़कर स्वागत किया उनका। अभी वे ठीक मिल भी नहीं पाये कि एक बालक ने उनका दक्षिणकर पकड़कर हिला दिया। यह भी चन्द्रमौलि का अतिशय स्नेहभाजन है। चाहे जब कैलाश जा पहुँचता है और पहुँच तो जाता है नीलकण्ठ प्रभु के पास तब भी जब वे अपने गणों के साथ महाश्मशान में होते हैं।

बालक के मन में कब क्या जिज्ञासा उठेगी इसका कोई नियम तो है नहीं और अपने प्रश्न उचित समय पर पूछने का धैर्य हो तो वह बालक ही कैसा।

भगवान् आशुतोष ने देखा उसकी ओर और हँसे—‘इसलिए कि वे तुम्हें हँसाया करें और तुम उनके साथ खेल सको।’

‘मैं नहीं खेलता उनके साथ।’ बालक ने सिर झटक दिया जोर से—‘हँसाने को और साथ खेलने को अपना यह कन्हाई क्या कम है?’

वे यहाँ तो कभी आते नहीं। भूतनाथ प्रभु ने गणों का पक्ष लिया—‘तुम उनसे रुष्ट क्यों हो? तुमको किसी ने कभी डराया?’

‘मुझे डरायेगा कोई?’ बालक ने छोटा-सा घूँसा बाँध लिया—‘लेकिन उनमें कोई अच्छा नहीं है। बाबा! तुमको साथ रखने को कोई अच्छे दीखने वाले सेवक नहीं मिलते?’

‘भैया!’ बड़े प्यार से पुचकारा सदाशिव ने बालक को—‘अच्छे लोगों को सब अपने पास रखना चाहते हैं। बेचारे भूत-प्रेतों को भी तो कहीं स्थान चाहिए। तुम उनसे रूठो मत!’

‘मैं कहाँ रूठता हूँ।’ बालक प्रसन्न हो गया है। उसके ये बाबा कितने अच्छे हैं। सचमुच भूत-प्रेत बेचारे—इन्हें कहाँ कोई अपने पास टिकने देता है। बाबा इनको भी पाल लेते हैं। इनको भी कहीं शरण चाहिए, यह बात बालक की छोटी-सी बुद्धि में भी आ गयी है।

‘बाबा! तुम बहुत अच्छे हो।’ यह बालक की स्तुति है और इससे उत्तम स्तुति भगवान् को भी श्रुति में नहीं मिलेगी।

‘अच्छे तो तुम हो!’ दक्षिणकर पकड़े बालक के कपोलों को छूता भगवान् शङ्कर का वामकर स्नेह से अलकों तक पहुँच गया है और समीप खड़े उसके नील सुन्दर सखा के नेत्र भी करुणा से भर आये हैं।

झाँकी-16 (परात्पर नारायण)

भगवान् नारायण—लेकिन वे नारायण नहीं जो द्विभुज हैं, स्वर्ण वर्ण हैं, भले पीताम्बरधारी श्रीवत्सवक्षा हैं। जिन्होंने महाराज नाभि के यज्ञ में दर्शन दिया और उन्हें वरदान देकर उनके पुत्र रूप से ऋषभावतार।

उन भगवान् विष्णु की भी बात नहीं जो श्वेत द्वीपाधिपति, शशि वर्ण, चतुर्भुज हैं। उन शब्द ब्रह्मशरीरी, निर्मल सूर्य के समान कान्तिमान श्वेत-कमल की माला धारण करने वाले, शङ्ख, चक्र, गदा एवं श्वेत पद्मधारी की भी बात नहीं; जिन्होंने महर्षि कर्दम को दर्शन दिया और उनके पुत्र रूप में भगवान् कपिल होकर अवतरित हुए। न उन त्रेता के आराध्य यज्ञ पुरुष की बात जो शुक्ल, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी हैं।

गर्भोदशायी उन महाविष्णु की बात भी नहीं, जो अष्टभुज हैं, जो प्रायः देवताओं की सहायता एवं असुरों के संहार के लिए प्रकट होते हैं। जिन भूमा पुरुष के समीप अर्जुन को लेकर श्रीकृष्ण गये थे। जो दक्ष के यज्ञ में भगवान् शङ्कर के सन्तुष्ट होने पर पधारे थे।

बात इस ब्रह्माण्ड के पालक क्षीरसागरशायी चतुर्भुज शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी, सागरनीलवपु प्रभु की नहीं और न इसी स्वरूप वाले राम वैकुण्ठनाथ की ही है। उनकी भी नहीं, जिन कारणाब्धिशायी की नाभि-कमल से लोकस्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के परमपालक, सर्वेश्वरेश्वर पर वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायण की बात—जहाँ प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्च की छाया भी नहीं।

ज्योतिर्मय चिद्घन वैकुण्ठ और आनन्दघन वैकुण्ठ और आनन्दघन वैकुण्ठ के पार्षद। जहाँ एक ही तत्त्व है—प्रेम। जहाँ एक ही जीवन है—आराधना जहाँ एक ही गति है आराध्य की इच्छा।

कमलतन्तुश्वेत, सहस्रफण मौलि अनन्त जहाँ कभी पर्यङ्क दीखते हैं, कभी सिंहासन और कभी नील-वसन, एक कुण्डल, स्वर्णगौर प्रमुख परिकर।

उन परम सुन्दर, पीताम्बर परिधान, नील मनोहर वपु, कौस्तुभ कण्ठ, श्रीवत्सवक्षा, चतुर्भुज कमल-लोचन की सेवा में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म साकार समुपस्थित रहते हैं।

उन सर्वेश्वर का श्रीविग्रह लगता है जो कृपा के घनीभाव से ही बना है। अजस्र अनन्त करुणा करुणार्णव के रोम-रोम से झर रही है। एक ही कार्य, एक ही व्यसन है उन्हें—दया करते रहना।

उन ज्योति स्वरूप के श्रीविग्रह से जो राशि-राशि रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं—हम आप सब उन रश्मियों के ही रूप हैं। वे रश्मियाँ ही जीव हैं। यह दूसरी बात है कि हम उन परात्पर प्रभु की ओर जब नहीं देखते—पता नहीं कहाँ से उनकी अतर्क्य माया शक्ति यह प्रपञ्च प्रकट कर देती है और हम अपने को पता नहीं क्या-क्या समझने लगते हैं। प्रकाश से पीठ देकर खड़े होने पर सामने छाया ही तो होगी और छाया तो विकृत होती ही रहती है।

‘स्वामी! ये आपके अपने अंश, आपके जन और ये जगत् में जा रहे हैं। आपकी क्रीड़ा—आपकी इच्छा’ अनन्त वात्सल्य सिन्धु उमड़ आया था भगवतीश्री में—उमड़ता ही रहता है वह। वे प्रार्थना कर रही थीं—‘प्रभु! प्रकाश से पराङ्मुख प्राण भटक जाते हैं आपसे भटकर इन्हें आपके श्रीचरण मिल नहीं सकते और तब इनके असीम दुःख का अन्त नहीं होने वाला है।’

‘नहीं होगा देवि!’ परावाणी भी जिसकी प्रतिध्वनि मात्र है, वह है, वह स्वर गूँजा—‘यहीं तो इनका पाथेय है। असन्तोष, अशान्ति दे दिया है मैंने जीवों को और यह इनका परम धन है। कोई भौतिक सुख, कोई भोग, परिस्थिति इन्हें सम्पूर्ण सुख-सन्तोष नहीं दे सकेगी, इन्हें बाँध भी नहीं सकेगी।’

‘ये भटकते ही रहेंगे?’ लगा कि दयामयी द्रव बन जायेंगी।

अन्ततः भटकाव इन्हें सुबुद्ध करेगा और ये पुकारेंगे!’ परम प्रभु की कृपा स्वयं स्वर बन गयी थी—और तुम जानती हो कि मैं इनकी पुकार की ही प्रतीक्षा करता हूँ। ये तुम्हारे अङ्क से दूर कभी जाते नहीं। इनका दुःख इनका स्वप्न मात्र है और जब ये पुकारते हैं, इनकी तन्द्रा स्वतः भङ्ग हो जाती है। ये दूर कहाँ होते हैं मुझ से।’

वहाँ काल की दाल नहीं गलती, अतः कब का प्रश्न ही कलुषित है वहाँ की किसी भी बात के लिए।

वहाँ देश का प्रवेश नहीं है, इसलिए वहाँ किसी के दूर जाने या पास आने

की आशङ्का भी अकारण है।

हम आप सब उन श्री के अङ्क में ही सो रहे हैं। अचिन्त्य असीम उच्छ्वलित वात्सल्य की मूर्ति भगवती थी और वे सर्वेश्वर परमप्रभु दो हों तो दो अङ्क की बात सोची जाय। जहाँ देश ही नहीं, वहाँ द्वैत कौन उत्पन्न करेगा।

उनके अङ्क में सो रहे अनन्त-अनन्त जीव उन सच्चिदानन्द के अपने अंश, उनके स्नेह भाजन, उनकी कृपा के सहज स्वत्वाधिकारी—किंतु सो रहे हैं हम और स्वप्न देख रहे हैं। स्वप्न ने कल्प-कल्पान्तर की कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर रखी है। हम भटक रहे हैं—स्वप्न में भटक रहे हैं।

झाँकी-17 (क्षीरशायी)

अनन्त अगाध क्षीर समुद्र है। दूध की उजली बहुत ऊँची लहरें उठ रही हैं। दूध का झाग उछल रहा है। एक स्थान उस दूध-समुद्र के भीतर विचित्र है। वहाँ लहरों ने एक विशाल—योजनों विशाल स्थान छोड़ दिया है। जैसे दूध की दीवारों, छतों से बना वह अकल्पनीय विस्तार वाला कक्ष हो।

उस स्थान पर महा प्रकाश है—उज्ज्वल, शान्त, स्निग्ध प्रकाश। किसका प्रकाश है, यह मत पूछिये। वहाँ जो कुछ है, सब प्रकाशमय है।

श्वेत वर्ण सहस्रफण भगवान् शेष हैं और उनके फणों के फैले छत्रों पर दीप्तिमान मणियाँ जगमग कर रही हैं। उन्हीं में से एक फण पर ब्रह्माण्ड राई के समान धरा है।

उन भगवान् शेष की कुण्डली पर आदिपुरुष श्रीनारायण अधलेटे पड़े हैं। उनका ज्योतिर्मय दिव्य देह—निर्मल नील क्षितिज के समान है। उस देह से राशि-राशि प्रकाश झर रहा है।

पीताम्बर का उत्तरीय, पीताम्बर की धोती और महामूल्यवान् रत्नों के आभरणों की ज्योति भी उस अंग की कान्ति में खो गयी लगती है।

रत्नमुकुट-किरीट, मकराकृत कुण्डल, विशाल भुजाओं में रत्नाङ्गद, कंकण, किंकिणी, नूपुर और रत्नमालाओं के मध्य वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा भृगुलता। कण्ठ के कौस्तुभ का प्रकाश ही रत्नों में सर्वोपरि है।

घुँघराले काले, कोमल, सघन केशराशि। धनुषाकार भ्रूमण्डल। किञ्चित

अरुण अनन्त कृपावर्षी सुदीर्घ लोचन उन परमपुरुष के कम्बुकण्ठ में कौस्तुभ की छटा, वक्ष के श्रीवत्स, नित्य अभयदायी भुजाओं की कान्ति जिसके मन को मुग्ध नहीं करती—भाग्यहीन है वह।

श्रीचरण—उन परम पुरुष के श्रीचरण सौन्दर्य—सुकुमारता की अधिदेवता महालक्ष्मी की गोद में दो विकच कमल के समान पड़े हैं।

भगवती महालक्ष्मी अत्यन्त तन्मयता से अपने सुकुमार करों से उन श्रीचरणों की संवाहना करना चाहती हैं और उन्हें देखने में विभोर हैं।

परम पुरुष का सुविशाल श्रीअंग नील गगन के समान स्थिर है। उस पर अनेक स्थानों पर क्षीर समुद्र के नन्हें बिन्दु पड़े हैं, जैसे गगन में तारे खिल रहे हों।

कभी—कभी कोई नन्हें बूँद पड़ जाती है श्रीअंग पर और उसे पोंछ देने को महामाया भगवती के कर उठ भी जाते हैं; किन्तु स्वयं वे संकुचित होकर अपने कर समेट लेती हैं। उनके अधरों का मन्दस्मित अधिक उज्ज्वल हो उठता है।

उनके इन आनन्दघन आराध्य का स्पर्श पाकर जो जीव दुग्ध-बिन्दु बनकर धन्य हो उठा है, उस निसर्ग-निर्मल, पावन प्राण को वहाँ से हटाया भला कैसे जा सकता है!

झाँकी-18 (बीरबहूटी)

अत्यन्त सुकुमार, अपने नाम के समान ही सुन्दर सलज्ज, सलोना यह प्राणी पावस के प्रारम्भ में कुछ ही दिन धरा पर दीखता है। जैसे स्वर्ग की भोली अप्सरा-बालिकायें मेघमाला की बूँदों के साथ खेलती हुई भटक आयी हों।

उस आषाढ़ के आरम्भ में वर्षा-स्नात वृन्दावन की शोभा शतगुणित हो उठी थी। सखाओं के साथ बछड़ों को आगे किये ब्रज राजकुमार ने वन में प्रवेश किया तो पक्षि-वृन्द स्वागत में चहकने लगा। फल-पुष्पोपहार सजाये तरु-शाखाएँ झूम उठीं।

बछड़े कूदने-फुदकने लगे। बालक क्रीड़ा में लग गये। सहसा सखाओं में छोटा, देवकुमार-सा सुन्दर देवप्रस्थ दौड़ता आया और कन्हाई से बोला—‘हाथ फैला!’

देवप्रस्थ के हाथ में कुछ है। इसने अपनी मुट्ठी बहुत ढीली बन्द की है।

कन्हाई ने हाथ फैलाया तो उसकी हथेली पर इसने एक लाल बूँद जैसी वस्तु गिरा दी। सुकुमार, मखमली वह बूँद श्याम की हथेली पर गुम-सुम स्थिर पड़ी है।

‘देव! क्या है यह?’ कन्हाई पूछता है। तनिक सिर झुकाकर बड़े ध्यान से देखता है।

‘सुन्दर है?’ देव पूछता है—‘बीरबहूटी है।’

‘बीरबहूटी?’ पता नहीं भोला कन्हाई क्या समझता है; किन्तु प्रसन्न देख रहा है।

‘यह तो तेरी हथेली पर मजे से सो गयी।’ सखा समीप आ गये हैं। एक ने झुककर देखकर कह दिया।

‘सो गयी?’ कन्हाई असमंजस में पड़ा लगता है। किसी को पकड़कर, हाथ पर लेकर फेंक देना, गिरा देना इसके स्वभाव में नहीं। इसे अपना आता है, त्यागना आता नहीं और यह अद्भुत नन्हा प्राणी सखा ने दिया है; किन्तु यह तो हथेली पर ही सो गया। ऐसे इसे कब तक लिये रहना पड़ेगा?

‘दादा!’ कन्हाई की सब समस्याओं का समाधान दाऊ दादा के पास है या भद्र के पास। कन्हाई इनसे ही कहता है। दाऊ दादा के सामने इसने अपनी हथेली आगे कर दी है।

‘ला! मुझे दे।’ दाऊ ने अपनी दाहिनी हथेली फैलायी तो धीरे से उस पर उस लाल बिन्दु जैसी को कन्हाई ने गिरा दिया। दादा ने देखा, बोले—‘इसे पाकर लली प्रसन्न होगी।’

कोई कुछ सोचे, कहे, इससे पहिले तो दादा ने उसे ऊपर उछाल दिया। वह तो कन्हाई के हाथ पर पहुँचते ही छुद्र कीट से दिव्य देही हो गयी थी, अब दादा ने उछाल दिया तो उसे धरापर कहाँ गिरना था वह तो गयी गोलोक।

‘सखि! तुम मुझसे भी लज्जा करोगी?’ अपने निकुञ्ज में अपने भावघन अष्टदल पद्मासन की कर्णिका पर विराजमान थीं कीर्तिकुमारी अपनी वाम हथेली पर एक नन्हें बीरबहूटी लिए उसे अत्यन्त स्नेह देखती कह रही हैं—‘यह निकुञ्ज अब तुम्हारा ही है। इसमें जहाँ जिस रूप में जैसे चाहो रहे।’

वह बीरबहूटी अपने नन्हें पैर निकालकर तनिक चली और कीर्ति कुमारी के करों से गिरकर उनके वाम पाद के ऊपर स्थिर हो गयी।

‘और वरदान दो!’ आठो अन्तरंगा सखियाँ तनिक आगे उझक आयी हैं। ललिता ने कहा—‘अब यह तुम्हारे पाद को शैय्या बनाकर सो गयी!’

‘चुप! चुप!’ श्रीवृषभानु-नन्दिनी ने अपनी पतली, कोमल, लाल तर्जनी अधरों पर रखी—‘यह बड़ों का स्नेहोपहार है!’

‘वहाँ अपने रसिक-शेखर रसराज के करतल की शय्या पर नींद लेने लगी थी और अब यहाँ महाभाव की अधीश्वरी के वामपाद को शय्या बनाकर सो गयी।’ रंगदेवी ने स्नेह, स्पृहा-सिक्त स्वर में कहा—‘ऐसी शय्या मिले तो निकुञ्ज में भी कोई और रूप से कहीं क्यों रहेगी?’

‘किन्तु तब तुमको सेव्या बनना पड़ेगा।’ ललिता हँस पड़ी।

‘सो इसे ही रहने दो।’ रंगदेवी ने कहा—‘हम सब इसकी भी सेवा कर लेंगी।’

लेकिन श्रीकीर्ति कुमारी के पदों पर पड़ी नहीं वह लाल बूँद अब सुग-बुगाने लगी। वह कहाँ किस रूप में रहेगी, यह अब उसी पर निर्भर है, किन्तु कामरूप होकर भी जैसे काकभुशुण्डि जी को अपना काक देह प्रिय है, इसे भी अपनी यह नहीं काया प्रिय लगने लगे तो आश्चर्य क्या?

झाँकी-19 (करुणानिधान)

श्री रघुनाथ एक छोटे से शिलाखण्ड पर बैठ गये हैं। यह शिलाखण्ड भी कोई कपि ही कहीं से उठा लाया होगा युद्ध में उपयोग करने के लिए। धनुष से ज्या उतर चुकी है। बाएँ हाथ में उतरा हुआ धनुष भूमि से टिका है। दोनों चरण पृथ्वी का किञ्चित् स्पर्श करते लटक रहे हैं।

लङ्का का युद्ध समाप्त हो गया है। दशग्रीव की चिता दूर जल रही है। युद्धभूमि में अब भी बाणों, धनुषों दूसरे अस्त्र-शस्त्रों के खण्ड, टूटे रथ, लुढ़के मुकुट, कटे-बिखरे रत्नाभरणों के मध्य अश्वों, गजों, खच्चरों के शवों के मध्य राक्षसों के शव पड़े हैं। उनके क्षत-विक्षत अङ्गों पर रक्त जम गया है। पूरी युद्धभूमि जमे रक्त के कीच से वीभत्स हो रही है गिद्ध, चीलें, कौवे, शृंगाल, कुत्ते महोत्सव मनाने में लगे हैं।

कपियों का मृत एवं आहत समूह सुरराज की अमृत वृष्टि से स्वस्थ, सजीव हो गया है और इस समय विभीषण द्वारा पुष्पक से की गयी ‘पट

भूषण’ की वृष्टि को लूटने-लपेटने में लगा है।

श्री रघुनाथ के पीछे लक्ष्मणलाल खड़े हैं। उनका भी धनुष अब उतर चुका है। उनके भी दाहिने हाथ में आज बाण नहीं है। सुग्रीव, जाम्बवन्त अङ्गद, हनुमान, नल-नील आदि प्रमुख पार्षद लक्ष्मणजी से भी किञ्चित् पीछे ही खड़े हैं। प्रभु विनोद की मुद्रा में हैं। वे इधर-उधर प्रसन्न देख रहे हैं तो किसी को उनकी दृष्टि का प्रतिरोध नहीं बनना चाहिये।

कपि और रीछ भी वस्त्र उठाते हैं और अटपटे-ढङ्ग से अपने किसी भी अङ्ग में लपेटने लगते हैं। कभी वस्त्र में हाथ उलझता है, कभी पैर और कभी नेत्र या नासिका ढँक जाती है तो कूदते हैं, वस्त्र को नोंच फेंकते हैं। प्रभु सुप्रसन्न देख रहे हैं इस क्रीड़ा को। उनके नित्य स्मित-शोभित श्रीमुख पर हास्य की ज्योत्सना बार-बार खिल रही है?

मस्तक पर बँधी जटाएँ हैं। कटि से दोनों तुणीर बँधे हैं। वल्कल वस्त्र हैं। यज्ञोपवीत है। दूसरा कोई आभरण नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण श्रीअङ्ग की छटा अद्भुत है। कहीं-कहीं स्वेद के झलमलाते बिन्दु हैं और रक्त के बिन्दु बहुत हैं। श्याम श्रीअङ्ग पर लाल-लाल रक्तकण स्थान-स्थान पर। प्रभु ने स्नान करना स्वीकार नहीं किया। अन्य कपि-रीछों के समान एक कपि ने एक मणि कूदकर उठा ली। बड़ी-सी लाल मणि, कपि को लगा कि कोई मीठा स्वादिष्ट पदार्थ होगा। मुख में मणि डाल दी उसने और फिर थूक दी। बेस्वाद कड़ा पत्थर भला कोई खा सकता है।

प्रभु की दृष्टि पड़ी और मज्जु हास्य गूँजा। कपि ने चौंककर देखा। उसकी दृष्टि प्रभु के श्री चरणों पर गयी और चौंककर, कूदकर उसने फिर मुख से भूमि पर गिरायी उस मणि की ओर देखा। झुककर मणि उसने उठा ली।

‘अब यह मणि का क्या करेगा?’ प्रभु उसी की ओर देख रहे हैं। कपि और रीछ एक बार जिस मणि को मुख से थूक देते हैं, उसे फिर देखते ही नहीं। लेकिन मणि हाथ में लेकर वह एक क्षण कुछ सोचता रहा और तब प्रभु की ओर चल पड़ा। धीरे-धीरे सकुचाता-लजाता-सा समीप आया। डरते-डरते उसने पीछे खड़े लक्ष्मणजी, कपिराज, युवराज, श्रीपवनपुत्र की ओर एक बार देखा। वानरी सेना का वह एक सामान्य सदस्य है। ‘कोई उसे रोकेगा तो

नहीं? कोई डाँटकर भगा तो नहीं देगा? प्रभु के श्रीचरणों के समीप तो कपिराज जाते हैं—वह जाय या नहीं?' उसके पद ठिठक गये।

'अनिल! क्या बात है?' प्रभु का जलद-गम्भीर सुप्रन्न स्वर गूँजा और उसमें साहस आ गया। वह उछला और ठीक श्री चरणों के समीप बैठ गया। मणि उसने प्रभु के लाल-लाल चरण तल से टिकाकर धर दी। भूमि पर मस्तक रखकर, सिर झुकाकर तिरछा करके देखने लगा कि इन अरुण चरणों के समीप यह लाल पत्थर कैसा दीखता है।

झाँकी-20 (होली)

'तू इतना बिना रंगा क्यों है?' होली का दिन और भद्रसेन के शरीर—विशेषतः मुख-कपोल का कुछ भाग बिना रंग के दीखता है, यह क्या आश्चर्य करने की बात नहीं है?

'मैं क्या तेरी भाँति गुलाल के थैले में बैठा था।' भद्र का कहना भी ठीक है। कृष्णचन्द्र आपाद मस्तक ऐसा हो रहा है जैसे स्नान करने के तत्काल पीछे वह अबीर या गुलाल से भरे थैले में जा घुसा था।

मस्तक पर न मयूर पिच्छ है, न कन्धे पर पटुका और न कण्ठ में वनमाला, कटि की कछनी में भी आज मुरली नहीं है।

आज आभूषणों के नाम पर कण्ठ में मोतियों की माला है कौस्तुभ के नीचे लकटती। भुजाओं में अंगद है और कलाइयों में मणि-कङ्कण।

वस्त्र के नाम पर केवल कछनी है; किन्तु वह पीताम्बर है या नहीं, पता नहीं। आज तो यही पता लगाना अशक्य है कि मैया यशोदा का लाल साँवला है या गोरा। कहा न कि कन्हाई ऐसा लगता है जैसे गुलाल भरे बोरे में—से सीधे निकला आ रहा हो।

श्याम के पास न पिचकारी है और न अबीर की झोली। इसको आवश्यकता भी क्या है। आज प्रातः वह ऐसे ही नन्दभवन से निकला है। किसी की झोली में हाथ डालकर मुट्ठी में गुलाल भर ली तो वह झोली वाले के मुख को लाल करेगा या दूर किसी को ताककर मुट्ठी फेंकेगा, कौन कह सकता है।

पता नहीं किस-किसकी पिचकारियाँ झपट लीं आज इसने और उसी

का रंग उसी के ऊपर.....!

इसने और इसके सखाओं ने जो धूम आज पूरे ब्रज में मचा रखी थी—किसी गोपिका को तीन-चार ने पकड़कर रंग के विशाल पात्र में नहीं पटका, उसके सिर-पर ही पात्र उलटकर सन्तोष कर लिया तो समझो कि वह बहुत सस्ते छूट गयी।

अब मध्याह्न होने को आया है। श्यामसुन्दर सखाओं के साथ यमुना स्नान करने चल पड़ा है। अत्यधिक दौड़-धूप, उछल-कूद से सब कुछ शिथिल हुए हैं और अचानक कृष्ण की दृष्टि भद्र पर पड़ गयी।

यह भद्र कुछ महीने बड़ा क्या है, कन्हाई पर रौब ही जमाता रहता है। पता नहीं क्यों गोपियाँ और ब्रज की लड़कियाँ भी इसका थोड़ा संकोच कर लेती हैं। लगता है आज की धूम में भी सबने इसे कुछ तो बचाया ही है। वैसे इसके वस्त्र और शरीर का रंग भी बता पाना कठिन है; किन्तु इसके मुख पर गुलाल की मुट्ठी किसी ने नहीं मली होगी। हो सकता है कि यह अपना मुख बचाता रहा हो। यह भी तो लड़कियों को कम ही तंग करता है। वे अनुनय करें तो इसे सबसे पहले दया आ जाती है।

'हुँ' अब भद्र के पास इसका क्या उपाय है? आज होली के दिन नन्दनन्दन धृष्टता करे तो इसे डाँटा जा नहीं सकता और इसने तो भद्र को दोनों भुजाओं में जकड़ लिया है। अपनी अबीर भरी घुंघराली अलकें सिर हिला-हिलाकर यह भद्र की नाक, कपोल, ललाट पर रगड़े चला जा रहा है—रगड़े ही जा रहा है। सखा सब ताली बजाकर कूदने लगे हैं।

झाँकी-21 (पिपासा पारखी)

श्याम आज सखाओं के सङ्ग कुञ्ज में बैठा है। पाँच-सात कदम्ब के वृक्षों का झुरमुट है और वह पुष्पों से लदा है। वृक्षों पर मालती लता ने एक और हरी चादर दो ओर फैला दी है। फूली मालती की शाखाएँ श्वेत हो रही हैं। पूरा कुंज मधुर मादक सुगन्धि और भ्रमरों की गुंजार से भरा है।

छोटे-छोटे गोपबालकों का समूह बैठा है इस कुञ्ज में। कठिनाई से ही कोई छः सात वर्ष के होंगे। अधिक तो तीन-चार वर्ष के ही हैं। दो वर्ष के भी कुछ हैं। यह दिगम्बर और कछनीधारी बालकों की मण्डली हैं।

छड़ियाँ, पटुके कुंज में और बाहर भी इधर-उधर अस्त-व्यस्त पड़े हैं। किसी को इनकी चिन्ता नहीं। चिन्ता और सँभाल करने की आयु ही अभी इनकी नहीं है। यह तो इन सबका हठ है कि बछड़े चराने की छूट इनको अपने घरों से मिल गयी है। नन्दगाँव के समीप ही वन में इन्हें बछड़े चराने आने की चेतावनी घर से चलते समय माता-पिता ने बार-बार दी है।

इनके बछड़े-बछड़ियाँ भी इन जैसे ही छोटे अल्हड़ हैं। यह बात दूसरी है कि नन्दनन्दन वन में हैं तो उनमें से कोई घर हाँकने पर भी नहीं जायगा, ले जाने पर नहीं रुकेगा; किन्तु इन महीने भर से लेकर तीन-चार महीने के बछड़ों को चरना कहाँ है। ये सब वन में कूदेंगे, फुदकेंगे और थक जायेंगे तो बालकों के आस-पास ही कहीं वृक्ष के नीचे बैठ जायेंगे।

इस समय कुञ्ज में कोई बछड़ा-बछड़ी नहीं है। बालक जैसे खेल-कूद कर आ बैठे हैं, बछड़े भी प्रायः बैठ गये हैं जहाँ-तहाँ। वे कहीं दो-तीन सठकर बैठे हैं और कहीं एकाकी भी। दो-चार इधर-उधर खड़े भी हैं।

बालकों के शरीर में धूलि लगी है। किसी के अङ्गों पर कीचड़ या गोबर के चिह्न भी हैं। सबके केशों में, कंठ में, भुजाओं में, कानों पर पल्लव, पुष्प, गुच्छे, पक्षियों के पंखों के अटपटे शृङ्गार हैं। कुण्डल, मालाएँ, बाजूबन्द, कंकण इस वन्य-शृङ्गार से दब गये हैं।

कन्हाई अपना पटुका कहीं गिरा आया है। एक कान में कुण्डल के साथ कदम्ब पुष्प लटक रहा है, दूसरे कान पर कनैर का फूल रखा है। बिखरी अलकें सखाओं के द्वारा पुष्पों से भर दी गई है। मयूरपिच्छ तिरछा हो रहा है। वंशी कछनी में खोंस ली गयी है।

अचानक एक दूध के समान उजला बछड़ा कूदता आया। उसने श्याम के इधर-उधर बालकों के पास कुदकी लगायी और फिर अपने सिर से कन्हाई की पीठ को ठेलने लगा।

‘गौरव! क्या है?’ मोहन ने मुड़कर बछड़ों को पुचकारा। उसके मुख, गर्दन के निचले भाग को सहलाने का प्रयत्न किया।

‘हुँ’ एक छोटी-सी हुँकारी बछड़े ने भरी और कूदकर कृष्ण के सहलाने के प्रयत्न को उसने असफल कर दिया। वह अब श्याम के पेट में सिर

लगाकर ठेलने की चेष्टा करने लगा है।

‘गौरव तुझसे झगड़ने आया है।’ कई बालक एक साथ बोल पड़े।

‘तू अप्रसन्न है? झगड़ा करेगा तू?’ कन्हाई उठकर खड़ा हो गया। उसने बछड़े के गले में भुजायें डाल दीं।

‘हुँ’ बछड़े ने फिर छोटी हुँकार भरी, कूदकर पृथक हो गया और फिर कृष्णचन्द्र की जाँघ पर सिर से ठेलने लगा।

बछड़े को प्यास लगी है, यह बात उसका पीताम्बरधारी चरवाहा समझता क्यों नहीं? आस-पास जल दीखता नहीं है और यह मयूरमुकुटी कुंज में बैठा अपने सखाओं के साथ गप्प लड़ाता बैठा है, तो बछड़ा झगड़ेगा नहीं। बछड़े को भूख लगे, प्यास लगे या कुछ और हो, उसकी सब आवश्यकतापूर्ति का दायित्व जिस पर है, वह उपेक्षा करे तो दोष उसी का तो ?

‘तू प्यासा है?’ मोहन अपने बछड़ों की भाषा समझता है। ‘रूठ मत! चल, तुम सबको जल पिलाने चलते हैं।’

अब सब बालक खड़े हो गये। अब वे अपने पटुके, छड़ियाँ ढूँढ़ने उठाने लगे हैं और बछड़ा श्याम को सूँघकर कुंज से बाहर फुदकता जा रहा है।

झाँकी-22 (शशांक शेखर का दूल्हा रूप)

सिवहिं सम्भु गन करहिं सिंगारा। जटामुकुट अहिमौर सँवारा ॥

कुण्डल कंकन पहिरे ब्याला। तन विभूति पट केहरि छाला ॥

ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा ॥

गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव वेष सिव धाम कृपाला ॥

ध्यान—दूल्हा वेश में भगवान नीललोहित का ध्यान! गणों ने बड़े उत्साह, बड़े प्रेम से भगवान का शृंगार किया है। जटाएँ मुकुट के आकार में बाँध दी गयी हैं और ‘अहिमौर’ यह अहिमौर क्या है? आपने दुल्हे का ‘मोर’ अर्थात् सेहरा देखा है? इसमें मुख्य बात होती है झूलती, झालर बनाती पुष्प मालाएँ। गणों ने ‘अहिमौर’ सँवारा—भली प्रकार सजाया है। लाल, पीले, हरे, श्वेत आदि अनेक रंगों के सर्पों को सेहरे की झालर के समान मुख के सम्मुख लटका दिया है।

कुण्डल कंकण के स्थान पर सर्प लिपटे हैं और उपवीत ‘भुजंग’। तीन

विशाल सर्प यज्ञोपवीत का स्थान लिये हैं। कटि में वस्त्र के समान सिंह चर्म है।

भगवान का श्रीअंग नीललोहित है। श्रीमद्भागवत में यह बात सती देहोत्सर्ग के पश्चात् आयी है। देवताओं ने जब कैलास पहुँचकर दर्शन किया, तब कहा गया है—'समन्तादनुनीललोहितम्' इतना गाढ़ लाल जो काला पड़ने लगा हो—गाढ़े रंग के बैंगन के समान रंग और उस पर उज्ज्वल भस्म सर्वांग में लगी है।

ललाट में चन्द्रमा की पतली कला, जटाओं में गंगा, कंठ भाग घन नील—यह अशिव वेष ही शिवधाम है। इस वेश का ध्यान परम मङ्गलदायक है।

वृषभारूढ़, नरमुंडों की माला पहिने, हाथ में त्रिशूल, डमरू और कपाल लिये, भूत-प्रेतादि गणों से घिरे भगवान शंकर की यह मूर्ति—यह पार्वती-परिणय के समय की झाँकी।

झाँकी-23 (बालक का उन्मुक्त आग्रह)

'माँ तू उल्लू पर बैठती है।' आज भी पञ्चमी (वसन्त पञ्चमी) है। यह भगवती सिन्धु-सुता का आविर्भाव दिवस भी है और श्रीनारायण के साथ उनके स्वयंवर का दिन भी। आज वैकुण्ठ भरा पड़ा है उपासकों, आराधकों, सुरों, साधकों एवं ऋषियों से। सबको आज श्रीलक्ष्मीनारायण के चरणों में अपनी श्रद्धा समर्पित करनी है; किन्तु क्या शिशु के लिए माता से कुछ कहने-पूछने के लिये भी कोई अवसर देखना आवश्यक है।

'तू उल्लू पर क्यों बैठती है?' सस्वर श्रुतियों के द्वारा की गयी स्तुति भगवती श्री के श्रवणों तक भले न पहुँचे; किन्तु वे बालक की अटपटी बात नहीं सुनेंगी तो वह झल्लायेगा नहीं। वह तो उनके हाथ खींचने लगा है।

'यह पक्षी कानवाला है।' भगवती ने सहास्य कहा—'तू इसकी पीठ पर बैठे तो उसके दोनों कान पकड़ सकेगा।'।

मुझे किसी के कान नहीं पकड़ने।' बालक ने सिर झटक दिया—'इस भद्दे डरावने पक्षी पर तू क्यों बैठती है? गरुड़ सुस्त हो गया है क्या?'

'गरुड़ भला सुस्त क्यों होगा।' पद्मा ने बड़े स्नेह से पूछा—'तुझे गरुड़ अच्छा लगता है?'

'हाँ—कितना तो बड़ा सारा है।' बालक ने दोनों हाथ पूरे फैला दिये।

गरुड़ की अकल्पनीय विशालता को सूचित करने के लिये उसके पास और कोई साधन कहाँ है। 'सुनहला-सुनहला—ठीक तुम्हारे रंग का है।'।

'तेरी बात तो ठीक है; किन्तु—रमा के स्वर में न व्यंग आया, 'न खेद, न हताशा, वे सहज सत्य कह गयीं—'गरुड़ मुझ अकेली को कहाँ पीठ पर बैठाता है। वह तो ये आदि-पुरुष अपने साथ बैठा लें तो बात दूसरी है।'।

श्रुतिमूर्ति गरुड़ यज्ञपुरुष के वाहन हैं। वे उन परम पुरुष को छोड़कर तो किसी का वहन करते नहीं। आदिशक्ति को भी वे उन पुरुषोत्तम के साथ ही अपनी पीठ पर बैठने दे सकते हैं। श्री यदि नारायण के साथ नहीं हैं तो श्रुति उनका सम्मान नहीं करेगी। बालक यह सब कहाँ समझता है। लेकिन वह भी इतना तो समझता है कि माँ ठीक कहती है। गरुड़ शेषशायी के वाहन हैं।

'माँ! तेरा हाथी भी तो है' बालक ने दो क्षण सोचा सिर झुकाकर, 'वह उजला-उजला चार सँड़ का हाथी तो अच्छा है।'।

'हाँ, ऐरावत अच्छा है।' महालक्ष्मी ने स्वीकार किया—'तू उसे अच्छा कहता है तब तो वह और भी अच्छा है।'।

'माँ, तुम उस महागज पर बैठती हो तो कितनी भली लगती हो।' यह बालक की स्तुति है। इससे श्रेष्ठ स्तुति जननी के श्रवण किसी को मानते ही नहीं।

'तू चाहता है तो मैं तेरे लिए—तेरे जैसे सभी के लिए सदा ऐरावत वाहिनी ही रहूँगी।' सहसा उन परमाने शिशु को आशीर्वाद दिया और अंक में उठा लिया।

झाँकी-24 (आद्या परमेश्वरी का क्रोध शमन)

महाशक्ति आद्या परमेश्वरी ने अभी-अभी सुरों का संकट समाप्त किया है। मार दिया ससैन्य असुराधिप को उन्होंने। छिन्न मस्तक पड़े हैं समर-भूमि में शुम्भ—निशुम्भ।

सम्पूर्ण रणधरा रक्त के कीचड़ से क्लिन्न है और उसमें इतस्ततः कटे अंग, मुण्ड पड़े हैं। अस्त्र-शस्त्र बिखरे हैं चारो ओर।

सब है; किन्तु सुर अब भी अत्यन्त सशंक हैं। षोडश भुजा महाशक्ति

त्रिपुरा संक्रुद्ध हैं। काँप रही हैं दिशायें उनके हुंकार से। उनका सिंह दहाड़ रहा है। यम, इन्द्र की तो चर्चा क्या, ब्रह्मा और रुद्रगण तक दूर गगन में खड़े भय-विह्वल हैं।

भूतनियाँ, शाकिनी, डाकिनी आदि रक्तपान, शिरः कन्दुक क्रीड़ा, आन्त्राकर्षण में लग नहीं पाती हैं। वे सब कपाल, खट्वाङ्ग, शूल, अस्थि दण्ड, खड्ग उठाये हाहाकार करती इधर से उधर दौड़ रही हैं।

‘अम्ब!’ यह क्या? समस्त सुर चौंके। सबकी दृष्टि युद्ध भूमि के एक प्रान्त की ओर गयी। एक कोमल क्षीण स्वर उठा—‘अम्ब!’

श्मशान के चारो ओर धू-धू करती चिताओं के मध्य जैसे किसी कोमल दूर्वा का नवाङ्कुर लहरा उठा हो—एक दो-तीन वर्ष का सुकुमार, दिगम्बर शिशु दीख पड़ा। वह पुकार रहा है—‘अम्ब!’

महाभैरवी ने देखा और उसके उद्दाम ताण्डव करते पद स्थिर हो गये। उसके दक्षिण कर का अस्थिदण्ड वायु में कुछ संकेत करता लहराया और अचानक शाकिनी, डाकिनी, प्रेतनी आदि का सम्पूर्ण कोलाहल शान्त हो गया। वे सब ठिठककर एक ओर सिमटने लगीं।

अम्ब! शिशु की अलकें लहरा रही हैं। उसकी कटि में केवल कटि-सूत्र मात्र है और वह दौड़ता आ रहा है। उसके पद रक्त से लथ-पथ हो रहे हैं; किन्तु वह कहाँ भूमि की ओर देखता है।

वह किसी शव से टकराकर गिर सकता है। उसे किसी कटे मुण्ड की ठोकर लग सकती हैं उसके सुकुमार पद यदि किसी बाण की अनीपर, खड्ग या शूल पर पड़ें—भूमि तो इनसे पटी पड़ी है और वह बिना नीचे देखे दौड़ता आ रहा है।

ऐसा कुछ नहीं होना है। महाभैरवी जानती है कि सुकुमार शिशु के नन्हें ‘पदों की गति में अवरोध आने का अर्थ क्या है’ आद्या फिर उसे क्षमा नहीं करेंगी।

उसके कर का उठा अस्थिदण्ड हिल रहा है और शिशु के पद पहुँचने से पूर्व ही सम्मुख के रुण्ड, मुण्ड, शस्त्रादि सब स्वतः दूर छिटकते जा रहे हैं।

‘अम्ब!’ यह लो शिशु तो दौड़ता समीप आ गया।

‘चुप!’ दहाड़ते सिंह की नाक पर उसने छोटे से कर से चपत धर दी और सचमुच कराल दृष्टा उग्र केशरी चुप हो गया। उसने पूरा मुख बंद कर लिया और सिर ऐसे झुका दिया है, जैसे उससे अपराध हो गया हो।

‘अम्ब!’ महाशक्ति रोष में हैं, हुंकार रही हैं अभी। उनकी हुंकार से दिशायें काँप रही हैं; किन्तु शिशु झल्ला गया है कि माँ उसकी क्यों नहीं सुनती है। वह नन्हा बालक, सिंहवाहिनी के चरण तक ही उसके कर पहुँचते हैं और झल्लाकर दक्षिण चरण का पादांगुष्ठ पकड़कर अपनी अल्पशक्ति से उसने हिला दिया है—‘अम्ब!’

‘वत्स!’ सहसा दृष्टि अपने पदों की ओर गयी और आद्या ने एक साथ षोडश भुजा के सब अस्त्र-शस्त्र सिंह से दूसरी ओर फेंक दिये। कूद पड़ी वे जगदम्बा। शिशु को आतुरतापूर्वक अंक में समेट लिया है उन्होंने।

समस्त सुर जयनाद कर रहे हैं। सम्पूर्ण योगिनी, डाकिनी, शाकिनी आदि वर्ग समीप सिमट आया है। रक्त-लथपथ भूमि है और रक्त सने शिशु के पद है। यह कुछ देखने का अवकाश महाशक्ति को इस समय नहीं है। उनका कर शिशु की अलकों पर घूम रहा है। उसके कपोलों को सहला रहा है—‘वत्स!’

‘अम्ब! तू क्रोध करती है?’ यह लो, शिशु ने अपना नन्हा दक्षिण कर आद्या के वाम कपोल पर धर दिया है।

‘वत्स! तू नहीं होता, तब क्रोध आ सकता है।’ वे महाशक्ति गद्गद स्वर से कह रही हैं—‘तू आ गया तो क्रोध कैसे यहाँ रह सकता था। वह भाग गया।’

‘भाग गया अम्बे!’ शिशु तो ऐसे चारो ओर देखने लगा है जैसे क्रोध भी कोई चूहा, बिल्ली या कुत्ता होगा और उसे भागते वह देख लेगा।

‘वत्स!’ महाशक्ति के कर घूम रहे हैं उसकी अलकों पर। उनके दीर्घ दृष्टों के बिन्दु उन अलकों को आर्द्र कर रहे हैं और उनके वक्ष से वात्सल्य उज्ज्वल स्निग्ध सुधा बनकर स्रवित होने लगा है।

कौन है यह शिशु?

आप स्वयं क्यों नहीं हैं।



खण्ड-5 : विविध

भक्तिपूरक सूत्र

❖ जीवन का ठीक सदुपयोग भगवत्-स्मरण है अतः निद्रा-जागरण की सन्धि में इस अल्पकाल को श्री कृष्ण स्मरण में लगाने का अभ्यास कीजिये। इस नगण्य समय में श्रीकृष्ण के सान्निध्य की स्मृति को जगाइये।

❖ भक्ति ही एक मात्र साधन है जो सार्वभौम है जिसे सब प्रकार के लोग सब अवस्था में सब समय प्रारम्भ कर सकते हैं। भक्ति मलाय हरण और गुणाधान दोनों कर सकती है। आप तो इस नन्दनन्दन का स्मरण प्रारम्भ कीजिये।

❖ नारायण का सखा नर, परमात्मा का अंश जीव। सीधी बात कि आप आनन्दघन कन्हाई के अपने हैं। यही आपका ठीक स्वरूप है। इस स्वरूप को स्पष्ट अनुभव में आना चाहिये। इस अनुभूति के अभाव में ही दैन्य दुःख आदि हैं।

❖ आप जब सचमुच मन से आहार कन्हाई को अर्पित करने का नियम कर लेते हैं तो मन उसके विषय में कन्हाई की इस-रुचि का चिन्तन करने लगता है। तब आपके अन्तर में वह अन्तर्यामी स्वयं ही अपनी रुचि सूचित करने लगता है।

❖ जीवन में श्रीकृष्ण प्रेम आवे, इसके लिये संसार से और संसार में भोगों से, पद-प्रतिष्ठा से उपरति तो आवश्यक ही है। यह तो हो नहीं सकता कि आप संसार से प्रीति करते रहे, और भगवत्प्रेम भी प्राप्त कर लें। संसार में अपने को कर्तव्य पालन तक सीमित कर लें, तो काम चल सकता है।

❖ एक दीपक से दूसरे दीपक के जलने के समान जिसके हृदय में श्रीकृष्ण प्रेम है, उसके सम्पर्क से आपके हृदय में श्रीकृष्ण प्रेम की ज्योति जागेगी।

❖ कन्हाई आनन्दघन है। इसकी प्रीति मरणोत्तर जीवन के ही कल्याण के लिये नहीं है। इसकी प्रीति वर्तमान जीवन को आनन्दमय बना देने वाली है।

❖ कन्हाई के चरित, गुण, महिमा प्रभावादि का वर्णन बार-बार पढ़ेंगे तो इसकी आत्मीयता में विश्वास होगा। इसमें प्रीति होगी और इससे मिलन की उत्कण्ठा जागेगी।

❖ कन्हाई के सम्बन्ध का श्रवण और इसके विषय का अध्ययन यदि व्यसन बन गया तो जीवन कृतार्थ हो गया। यह व्यसन ही आपको भगवत्प्रेम

प्रदान कर देगा।

❖ भक्ति में नाम को नामी भगवान से अभिन्न माना जाता है। नाम स्वयं भगवान है। अतः नाम-जप करते समय कोई दूसरा चिन्तन नहीं करना चाहिये।

❖ निरन्तर किसी भी एक ही विषय का चिन्तन व्यावहारिक नहीं है, किन्तु तुम्हारे चिन्तन का मुख्यालय भगवान होने चाहिये। मन इधर-उधर से घूम भटककर उन तक पहुँच जाया करे।

❖ भक्ति है प्रीति का परिपक्व स्वरूप।

❖ श्रीकृष्ण का आप कुछ देर को ध्यान करते हैं सो करते रहिये; किन्तु इस कन्हाई की चर्चा-चिन्तन को अपना स्वभाव बना लीजिये। तब आपकी इससे प्रीति हो जायेगी यह आपको अपना बना लेगा।

❖ आपको कन्हाई को अपनाने की, हृदय में लाने की रुचि हो तो इसके चिन्तन को बढ़ाना चाहिये। इसका चिन्तन आपके चित्त का सहज स्वभाव बन जाय, यही आपका परम पुरुषार्थ है।

❖ भगवान्-सम्बन्धी भावना, भव-रोग निवारिका परमानन्द-दायिका परमौषधि है। आप अपने मन में कन्हाई की चपल क्रीड़ाओं की भावना कीजिये। भावना करते रहने का मन का स्वभाव बना लीजिये।

❖ कृष्ण का अर्थ है आकर्षण की सत्ता या आनन्द की सत्ता। आप कन्हाई का चिन्तन करने लगे तो यह स्वयं आपके चित्त को अपनी ओर खींच लेगा। इसका तो चितचोर, नवनीत चोर नाम ही है।

❖ इस भवपाश को छिन्न करने के लिये व्यसन भी उतना ही सशक्त चाहिये। आप जितनी देर कन्हाई की चर्चा करते, सुनते या इस चपल के सम्बन्ध में कुछ सोचते हैं, उतनी देर संसार या माया आपसे दूर रहती है या नहीं? इसी को आप व्यसन बना लें सकें तो आप जीवन में ही माया-मुक्त। तब तो आप कन्हाई के और यह ब्रजेन्द्रनन्दन आपका।

❖ कन्हाई आपका व्यसन बन सके, इसका नाम, इसकी कथा, इसका चिन्तन, इसकी चर्चा व्यसन बन सके तो आपका मानव जीवन ही धन्य हो जाय।

❖ यदि तुम भगन्नाम लेते-लेते सो जाओ और ऐसा अभ्यास कर लो कि नींद टूटते ही मुख से भगन्नाम निकले तो तुम्हारी नींद का पूरा समय जप करने का माना जायेगा।

❖ सब इन्द्रियों का पालन सबका नित्य पोषण कन्हाई के अतिरिक्त कहीं सम्भव है? इसीलिये तो यह गोपाल है। यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी होता है—गोविन्द भी है और इन्द्रियों का परम पालक गोपाल भी है। इस गोपाल को पाये बिना कहाँ प्राणी की परम सार्थकता सम्पन्न होती है।

❖ अद्भुत नाम है जनार्दन! इसके दो अर्थ होते हैं—(1) माया को नष्ट करने वाला। (जना = माया, अर्दन = मसल देने वाला)। (2) अपने जनों को रगड़-मसलकर शुद्ध कर देने वाला। (जन = निजजन, अर्दन)

❖ कोई कन्हाई की ओर उन्मुख होता है तो यह उन्मुखता ही उसे अनायास ही स्वच्छ कर देती है। जिसमें भक्ति देवी का तनिक भी प्रकाश आया वह शरीर से तो अनासक्त हो ही गया। कदाचित् कभी आसक्ति आ ही जाय तो आपने कभी सुना है कि संकट में किसी ने परमात्मा को पुकारा और उसको सहायता प्राप्त नहीं हुई।

❖ आप अपने शरीर को, स्वजन को, परिवार को, पद-प्रतिष्ठा को इसकी इच्छा पर समर्पित करने को प्रस्तुत है? यह सबको खेलने को यथेष्ट खेलने को अर्पित कर देने को उद्यत है तो यह आपकी स्मृति में बना रहेगा और इसकी स्मृति तो इससे अभिन्न है।

❖ कन्हाई को अपना बना लेना जीवन की कृतकृत्यता है। समस्त पौरुष की सफलता है। कि श्री बृजेन्द्रनन्दन में आत्मीयत्व स्थापित हो जाय।

❖ कन्हाई जीवन में आयेगा तब पूरा जीवन ही कृष्ण के लिये, कृष्णमय बनकर रहेगा तब न संसार-न संसार के सम्बन्ध। न मानापमान, न पद-प्रतिष्ठा। तब अपना अपने लिये तो कुछ रह नहीं जाता।

❖ कन्हाई जब जीवन बनता है, जीवन जगत्पावन बन जाता है। उसका स्मरण-चिन्तन करके दूसरे अनन्त काल तक अपने को पवित्र करते रहते हैं। वह ज्योतिपुंज हो उठता है, जो सम्पर्क में आया उसमें भी वही ज्योति अवतरित हो गयी। एक दीपक से दूसरा दीपक जल गया।

❖ यह सम्पूर्ण जगत, इसके सब रूप कन्हाई की ही क्रीड़ा है। यह सत्य होने पर भी तब तक यह समझ में नहीं आता, जब तक कन्हाई जीवन न बन जाय। जब कन्हाई जीवन बन जाता है तब जगत्; जगत् नहीं रह जाता।

❖ प्रेम का पिता है विश्वास और माता है निरपेक्षता। संसार में सब ओर

से निरपेक्ष होकर जो कन्हाई पर ही विश्वास करता है, उसे कन्हाई का प्रेम प्राप्त होता है और कन्हाई का प्रेम तो कन्हाई के मिलने से बहुत-बहुत अधिक महान है।

❖ यह प्यास—यह अभीप्सा कन्हाई के गुण, चरित श्रवण, चिन्तन-पठन से, बार-बार मनन से जागा करती है या किसी भगवज्जन की अनुकम्पा से। कन्हाई से मिलना है तो मुझे तीसरा कोई मार्ग स्मरण नहीं।

❖ चिन्ता-कन्हाई के लिये चिन्ता करने का अभ्यास कीजिये। कोरा चिन्तन का अभ्यास काम नहीं दिया करता। इस नन्दनन्दन के लिये आप चिन्ता करने लगेंगे तो यह चिन्ता ही आपको सब चिन्ताओं की महोषधि हो जायेगी।

❖ कन्हाई मिलता है—सचमुच मिलता है और सदा-सदा को मिल जाता है; किन्तु मिलता है परम व्याकुलता से। इस परम व्याकुलता का अर्थ है कि जब आपका काम किसी प्रकार कन्हाई के मिले बिना नहीं चलता। जब मरण या मिलन में क्षणार्ध का अन्तर रह जाता है, तब कन्हाई मिलता है। मिलता ही है उस समय। मिले बिना यह रह जो नहीं सकता।

❖ व्याकुलता—कन्हाई के लिये परम व्याकुलता जागे तब जीवन धन्य होता है। यह परम व्याकुलता भी वांछनीय, प्रार्थनीय है। परम व्याकुलता को दो बार नहीं जगाना पड़ता है। प्राणों में एक बार यह जागी तो फिर ब्रजराजकुमार का विस्मरण कैसा? और तब क्या कन्हाई के मिलने में विलम्ब होना है।

❖ आध्यात्मिक साधन की नींव विवेक और वैराग्य है। बिना विवेक, वैराग्य के साधन या तो दम्भ हो जाता है या सांसारिक स्वार्थपूर्ति का साधन।

कन्हाई की उदारता यह है कि वह आर्त और अर्थार्थी को भी भक्त मानता है किन्तु क्या आर्त और अर्थार्थी में कन्हाई के लिये क्या कोई व्याकुलता है।

❖ वैराग्य का अर्थ है—कुसंग से बचे रहना और किसी भी सांसारिक कामना को प्रबल न होने देना। विवेक के द्वारा संसार के भोगों की असारता जैसे-जैसे बढ़ेगी, वैसे-वैसे एक ओर उनसे वैराग्य बढ़ेगा और दूसरी ओर जीवन में कन्हाई की आवश्यकता का अनुभव बढ़ेगा।

❖ प्राणों में प्यास जागनी चाहिये। कन्हाई के लिये प्रतीक्षा जागनी चाहिये। प्रतीक्षा जाग जाये तो अपने आप मन-प्राण-जीवन उसके ही उन्मुख हो जाय। सब काम चलेंगे, चलते रहेंगे; किन्तु मन संसार में लगने के स्थान

पर उचटा-उचटा रहेगा। बार-बार कान-प्राण उधर ही उन्मुख होंगे—‘कन्हाई आया नहीं। आ तो नहीं रहा है?’

❖ प्रतीक्षा सबसे बड़ा साधन है। कन्हाई के लिये आपके प्राण-मन प्रतीक्षा करने लगे, यह साधन तो है ही साध्य भी है। इसे प्राप्त कर लीजिये। कन्हाई तो आवेगा—विवश होकर आवेगा; क्योंकि प्रतीक्षा करते प्राणों की वह उपेक्षा कर नहीं सकता।

अद्भुत अनुभव

बात बहुत दिनों की है, सम्भवतः सन् 1933 के वसन्त की। मैं उन दिनों पण्डित श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी जी (अब स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती जी) के घर पर रहता था। हम दोनों युवक थे और एक से झक्की स्वभाव के थे। पण्डित जी ने मुझसे सलाह की और हम दोनों घर से निकल पड़े। पैदल यात्रा का संकल्प था। हम लोग पैदल पाण्डिचेरी तक जाना चाहते थे। वैसे बीच में मेरे बीमार हो जाने से आन्ध्र की सीमा से हमें लौट आना पड़ा था।

पास में एक लोटा, दो-दो धोतियाँ, शरीर पर कुर्ता-कमीज, एक चद्दर, एक झोला और बहुत थोड़े-सम्भवतः दस से भी कम रुपए थे। हम लोग गया तक रेल से गये। गया से पैदल यात्रा प्रारम्भ हुई।

गया से तपोवन और वहाँ से पहाड़ियों के किनारे-किनारे राजगृह की ओर चलने लगे। तपोवन में एक वैष्णव साधु ने भोजन कराया था, आगे एक साधु ने मन्दिर में रात्रि को बुलाकर आवास और भोजन दिया।

वहाँ से प्रातः चले और चलते गये। दिन में मुट्ठी भर चने भी नहीं मिले। सूर्यास्त हो गया, कहीं रात्रि बिताना था; किन्तु वृक्ष के नीचे भी रुक जाने की सोचते तो कोई न कोई समीप के गाँव का आ धमकता और कहता—‘यहाँ मत रहो; अगले गाँव जाओ।’ विवश चल देना पड़ता। इस प्रकार कहीं रुकने को भी स्थान नहीं मिल रहा था।

दिन भर के भूखे, थके-हारे लगभग 26 मील पैदल चलने के पश्चात् बिहार लाइन के एक रेलवे स्टेशन पर पहुँचे (नाम मुझे अब स्मरण नहीं है)। स्टेशन के टीन के मुसाफिर-खाने में अकेली चद्दर बिछाकर हम दोनों लेट गये। रात्रि में कोई ट्रेन नहीं आती थी। सुनसान था वहाँ।

अचानक तेरह-चौदह वर्ष की आयु के दो बालक आये। उनका वह

सौन्दर्य-वैसी सुन्दरता संसार में होती नहीं; किन्तु हमारी अवस्था उस समय सौन्दर्यानुभूति की नहीं थी। पण्डित जी उठकर बैठ गये, पर मैं लेटा ही रहा। वे उसी चद्दर पर हमारे समीप बैठ गये।

थोड़ी बातें की उन्होंने पण्डित जी से और फिर बोले—‘आप लोग खोया खायेंगे? हम खोया लाते हैं।’

दोनों चले गये और कुछ क्षणों में ही लौटे। दो दोने में वे लगभग ढाई पाव खोया लाये थे। हमारे लोटे में जल भी वही ले आये।

‘तुम दोनों कहाँ रहते हो?’ पण्डितजी ने पूछा।

‘यहीं पास ही रहते हैं।’ बात विश्वास करने योग्य थी। पास न रहते तो इस रात्रि में लगभग साढ़े गयारह-बारह बजे खोया कहाँ से ले आते।

वे हमें विश्राम करने को कहकर चले गये। हम दोनों ने खोया खाया-पेट भर गया उससे, जल पीकर सो गये। इतने थके थे कि जब नींद टूटी तो सूर्योदय हो चुका था।

पानी ढूँढ़कर नित्य कृत्य से निवृत्त हुए। अब ढूँढ़ा, पता लगाया तो वहाँ न कोई दुकान, न पास-पड़ोस में कोई गाँव। छोटा स्टेशन—अकेले स्टेशन मास्टर अपने क्वार्टर में रहते थे। उस स्टेशन के वही पाइण्ट मैन्, टिकट कलेक्टर, स्टेशन मास्टर सब कुछ थे। उनके घर तो कोई बालक नहीं थे।

मध्य रात्रि को, निर्जन में हमे खोया दे जाने वाले वे दोनों बालक फिर कौन?

जो अनाश्रय, असमर्थ, असहायों के परम सहायक करुणा-वरुणालय हैं, उनको छोड़कर उस जनहीन अपरिचित स्थान पर हम अतिशय थके, क्षुधातुर, विवश की सुधि लेने रात्रि में कौन आ सकता था; किन्तु उन्हें ढूँढ़कर तो पाया नहीं जा सकता। हमें आगे चल देना था वहाँ से।

सीता-कुण्ड

अग्नि का वह कुण्ड खौलते हुए पानी से भर गया। उष्ण-जल से उठती हुई वाष्प को देखकर आज भी दर्शक चकित रह जाता है। प्रत्येक बारह वर्षों के पश्चात् जब रामनवमी आती है तो एक दिन के लिए उस कुण्ड का जल शीतल पड़ जाता है और फिर वही उष्णता, वही वाष्प।

इस पानी की विचित्र कहानी पण्डे ने बड़ी गम्भीरता से सुनायी—

“रावण और उसके साथियों का संहार हो जाने पर श्रीराम ने सीता को लिवा लाने के लिए लक्ष्मण को भेजा।”

परम विदुषी पति धर्म-परायणा सीता को लक्ष्मण लिवा लाये। श्रीराम ने सीता को देखा और सीता ने श्रीराम को। दोनों की आँखें एक-दूसरे के हृदय तक पहुँच गयीं। दोनों मौन थे, दोनों उदास।

अचानक श्रीराम की भृकुटी तनी, आँखें आकाश की ओर उठीं फिर पृथ्वी पर आ जमीं। घोर चिन्तन के पश्चात् श्रीराम ने एक गहरा साँस छोड़ा।

उस साँस में जीवनदायिनी शीतलता भी थी और दाहक अग्नि भी। श्रीराम की इस लीला का रहस्य किसी ने नहीं जाना।

हनुमान आज्ञा की प्रतीक्षा में थे, जाम्बवन्त, अंगद, सुग्रीव, विभीषण आदि युगल जोड़ी की छवि का दर्शन पाने के क्षण की बाट जोह रहे थे; लक्ष्मण भैया का हृदय पढ़ रहे थे और सीता श्रीराम के मन की गतिविधि का अवलोकन कर रही थी—

‘आर्य! मुझ पर सन्देह न करिये।’

‘प्रिये! हम मनुष्य हैं, आकाश के देवी-देवता नहीं। मनुष्य-लीला में धर्म-मर्यादा, समाज-मर्यादा और लोक-संग्रह की दृष्टि से विचार आवश्यक हैं।’

निर्भयता से साहस पूर्वक सीता ने कहा—‘मुझे कोई आपत्ति नहीं है।’ बस एक ही प्रश्न है?’

‘कहो।’

‘पाणिग्रहण के समय परीक्षा ली थी?’

‘हाँ।’

‘कैसे?’

‘आत्म-दृष्टि से।’

‘राज-भवन में परीक्षा ली थी?’

‘हाँ।’

‘कैसे?’

‘व्यवहार-दृष्टि से।’

‘अब परीक्षा कैसे लेंगे?’

‘जन-दृष्टि से।’

श्रीराम ने हनुमान की ओर देखकर कहा—‘अग्नि प्रज्वलित करो।’

लक्ष्मण को भी इस मर्म को समझने में देर लगी। अंगारे दहक उठे। उपस्थित मण्डली को सम्बोधन करते हुए श्रीराम ने कहा—

‘अपने सामाधान के लिए नहीं, जन-निन्दा से भयभीत होकर नहीं, चरित्र-बल की प्रतिष्ठा के लिए सीता की अग्नि-परीक्षा होगी। सीता राक्षसराज रावण के चंगुल में रही है। वह अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिए दहकती हुई अग्नि पर चलेगी।’

‘मुझे अग्नि पर चलना स्वीकार है। साँच को आँच कहाँ? मेरे पवित्र-प्रेम से अग्नि शीतल पड़ जायेगी। चरित्र की कसौटी अग्नि-परीक्षा है। अग्नि में तपकर खरे सोने का रूप निखरता है।’

लक्ष्मण को यह प्रसंग नहीं सुहाया। वीर और सच्चा स्वभाव था, खरी बात कहते थे, परशुराम के संवाद में, सेतुबन्ध के अवसर पर लक्ष्मण के साहसी स्वभाव का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा—‘भैया! यह नहीं होगा। माता के चरित्र में सन्देह का कोई स्थान नहीं है।’

सीता ने प्रसन्नता से कहा—‘आप उत्तेजित न हों। चरित्रवान की अग्नि-परीक्षा सार्थक है। चरित्रहीन तो स्वयं ही जलता रहता है।’

श्रीराम ने कहा—‘वह चरित्र ही क्या’ जो अग्नि (सांसारिक तापों) से भयभीत हो।’

सीता ने राम का नाम लिया। पैर बढ़ाया और अग्नि पर रख दिया। और फिर इस प्रकार चली, जैसे शीतल धरती पर।

अग्नि-परीक्षा में सीता उत्तीर्ण हुई। किसी जादू, लाग अथवा चमत्कार के बल से नहीं—नाम-स्मरण और चरित्र-बल से।

* * *

बहुत दिनों के पश्चात् बिहार के एक प्रान्त में चारों भाई सीता-सहित वन-विहार कर रहे थे। वर्तमान मुंगेर के पास उन्होंने सप्तऋषियों के दर्शन किये। ऋषियों ने सबका प्रणाम स्वीकार किया—सीता का नहीं। और जब भोजन के लिए श्रीराम ने आग्रह किया तो ऋषियों ने स्पष्ट कह दिया—‘हम सीता के हाथ का अन्न ग्रहण नहीं करेंगे।’

श्रीराम अवाक् रह गये। सीता को अपने प्रति ग्लानि हुई। लक्ष्मण के

लिए यह अपमान असहनीय था। परन्तु श्रीराम का संकेत पाकर शान्त रहे।

‘मुझसे कौन-सा पाप बन पड़ा है?’ सीता ने कर जोड़कर प्रश्न किया।

‘पाप तो प्रत्यक्ष है। नरक के समान कुसंग में तुम रावण के यहाँ रही। कुसंग का दोष ही आपका पाप है।’

‘इसका प्रायश्चित्त हो गया। अंगारों पर सीता का यह पाप भस्म हो चुका है आपके सामने परम पुनीता जगदम्बा है’—लक्ष्मण ने तीव्रता से कहा।

‘अग्नि पर सीता अपने बल से नहीं, श्रीराम के प्रताप से चली थीं। श्रीराम की दृष्टि में मृतकों को जीवित करने की शक्ति है फिर उनके देखते-देखते जीवित कैसे जल जाय?’ ऋषियों ने उत्तर दिया।

‘ऋषियों! मुझे आज्ञा दीजिये—किस प्रायश्चित्त से मेरा पाप कट सकता है?’ सीता बोली।

लक्ष्मण भड़क उठे ‘सीता-माता निर्दोष है। उसके हाथ का भोजन ग्रहण न करने वालों के मन में मैल है। हमें कोई चिन्ता नहीं। ऋषिजनों! आपका यह व्यवहार शिष्ट नहीं है।’

ऋषियों ने एक-दूसरे की ओर देखा, काना-फूसी की। अन्त में निर्णय हुआ कि यदि राजा जनक सीता के हाथ का भोजन कर लें तो हमें भी कोई आपत्ति नहीं होगी।

हनुमान जी राजा जनक को लेने गये। राजा ने आकर प्रसंग सुना और उसके महत्व को समझा। दिव्य जीवन, निर्दोष हो तो भी जन-दृष्टि उस पर पड़ती है। कसौटी पर खरे उतरने वालों की जगत में लीक रहती है।

जनक ने कहा—‘सीता मेरी पुत्री है। सीता का पाप मेरा पाप है। वह पिता ही क्या, जिसकी संतान निष्पाप न हो। ऋषियों के आदेशानुसार जब तक सीता प्रायश्चित्त न कर लेगी मैं भोजन नहीं करूँगा।’

श्रीराम ने स्वाभाविक शान्ति से कहा—‘जो जितना ऊँचा उठता है उस पर उतनी ही जन-दृष्टि पड़ती है। उसके पास आया हुआ धब्बा भी उस पर लगा दीखता है। सावधानी और धर्म उन्नतिशील मनुष्य के लिए है। पशु के लिए भी नहीं और देवता के लिए भी नहीं। मनुष्य लीला की है—प्रायश्चित्त करना ही होगा।’

‘तो सुनिये’—ऋषियों ने घोषणा की—‘सीता सात दिन तक अग्नि के जलते कुण्ड में बैठेगी। उसके गले में हम एक पुष्पों की माला डालेंगे। यदि

सात दिन तक अग्नि में बैठी सीता के गले की माला भी नहीं मुरझायेगी तो कुसंग का दोष कटा माना जायेगा।’

‘अनुचित! अनुचित! अनजाने में जबर्दस्ती असुरों के बीच में रहने का ऐसा कठिन प्रायश्चित्त।’

‘प्रायश्चित्त करना ही होगा’—श्रीराम ने दृढ़ता से कहा।

कुण्ड का निर्माण हुआ। अग्नि प्रज्वलित की गयी। सीता ने कहा—आर्यपुत्रों! और ऋषियों! आप सब इतनी दूर चले जाइये कि मेरे पाप का धुआँ भी आपको न लगे। मैं कुण्ड में बैठती हूँ। धरती माता और आकाश के देवता मेरे चरित्र के साक्षी हैं।’

सात दिन तक सीता धधकते हुए अग्निकुण्ड में बैठी रहीं। आठवें दिन ऋषियों ने हनुमान को देखने के लिए भेजा। हनुमान ने प्रणाम किया। सीता ने अपने गले से पुष्पों की माला उतार कर दी—ऋषियों ने देखा कि वह ज्यों की त्यों थी।

ऋषियों ने माता से अग्निकुण्ड से निकल आने की प्रार्थना की—सीता नहीं निकली।

पिता जनक ने कहा—‘पुत्री सीता! बाहर आकर मेरे कुल की उज्ज्वलता का प्रमाण दो।’

सीता बाहर आयी। ऋषियों ने प्रणाम किया। आकाश ने पुष्प बरसाये। इसी समय सीता के माथे पर पसीने की बूँदें आयीं। जैसे ही एक बूँद कुण्ड में टपकी—अग्नि का जल बन गया।

आज भी वह जल, जल रहा है। मुँगेर के निकट ‘सीताकुण्ड’ स्थित है। उसी के आस-पास चारों भाइयों ने चार जलकुण्ड बनवाये—उनका जल शीतल है।

सीताकुण्ड का स्रोत जहाँ तक जाता है वहाँ तक जल उष्ण रहता है। यात्री उस जल में स्नान, आचमन आदि करके निरोग होते हैं। यही इस सीताकुण्ड के पानी की कहानी है, चरित्र बल से आग भी पानी-पानी हो जाती है।

महामानव (दैत्यराज) के उद्गार

दैत्यराज बलि का सर्वस्व तीन पद पृथ्वी माँगने के बहाने लेकर भगवान् वामन ने गरुड़ द्वारा उन्हें वरुण-पाश से बँधवा दिया। अभी वे वामन विराट् रूप में सामने खड़े हैं।

इसी समय शुक्राचार्य ने बलि के समीप खिसक कर कहाँ—‘दैत्येन्द्र ! तुमने मेरी बात नहीं मानी, अब देख लिया, बन्धन तो मिल ही गया और अब नरक जाने की बारी है।’

बलि ने आचार्य की ओर केवल एक बार देखा और फिर त्रिविक्रम के श्री चरणों में दृष्टि लगाकर बोलने लगे—

‘आचार्य चरण ! आज तो यह दैत्य बलि धन्य-धन्य हो गया। इस पर आपका इतना अनुराग, इतना मोह है कि सम्मुख इन विराट् प्रभु के होते भी आपको इस अधम दैत्य का जिसने आपकी अवज्ञा की, आपकी आज्ञा नहीं मानी, उसका स्मरण आता है। गुरुदेव की यह महती कृपा मुझे मिली, धन्य हो गया मैं।’

गुरुदेव ! मुझसे और आपसे भी विष्णु अपरिचित कहाँ हैं। अभी अमृत-मन्थन के समय वे हमारे साथ थे, हमारे साथ समुद्र-मन्थन कर रहे थे। तभी तो उन्हें कौस्तुभ-मणि और लक्ष्मी मिलीं।

अभी देवताओं के साथ हमारे साथ युद्ध में वे गरुड़ पर बैठे देवताओं की ओर से हमसे युद्ध कर रहे थे।

विष्णु तो बलि के बहुत जाने-पहिचाने हैं। उन्हें देवता और ऋषि भले अजित कहें; किन्तु हम असुरों से हारकर ही तो उन्हें मोहिनी बनना पड़ा था।

बात विष्णु की नहीं है, बात तो सम्मुख खड़े अनन्त विराट् त्रिविक्रम की है और बलि ने आप सबके सामने इन्हें बार-बार पराजय दी है।

विराट् प्रभु क्षमा करें, आप भी गुरुदेव चौकें मत। बिना साधन-भजन इनके इस विराट् रूप का दर्शन किसी को ये देते हैं ?

देवता-दैत्य, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, पशु-पक्षी सबको, पापी-पुण्यात्मा के किसी विचार के बिना पाताल से ब्रह्मलोक तक के सब प्राणियों को बलि न इनके विराट् रूप का दर्शन सुलभ कर दिया, यह इनकी विजय है या असुर बलि की ?

बलि तो असुर है। असुर का स्वभाव ही धर्म की मर्यादा नष्ट करना कहा जाता है। बलि ने धर्म की मर्यादा इन धर्म के परम प्रभु को तोड़ने पर विवश कर दिया है—

इस भृगुकक्ष के पवित्र तीर्थ में, आप जैसे महान् ब्रह्मऋषियों की उपस्थिति में, प्रजापति कश्यप के परम तेजस्वी ब्रह्मचारी पुत्र को श्रद्धा सहित थोड़ी भूमि नहीं, त्रिलोकी का—अपने सर्वस्व का दान किया बलि ने और वह

बन्धन में है, यह इनकी विजय है या असुर बलि की ?

आप से—दूसरे भी मुनियों से सुना है कि ये अपनी मर्यादा कभी भंग भी कर देते हैं, किन्तु अपने भक्त की मर्यादा टूटने नहीं देते। बलि ने आज उसे भी आप सबके समक्ष तोड़ दिया है।

गुरुदेव ! और प्रभु भी चौकें नहीं। ये गरुड़ इनके परमभक्त हैं या नहीं ? त्रिभुवन जानता है कि विनता-नन्दन गरुड़ पाश-छेत्ता हैं। आज बलि को गरुड़ ने पाश में बाँधा, यह गरुड़ के स्वामी की विजय है या बलि की ?

बलि को ये अपने करो से भी बाँध सकते थे, किन्तु तब यह कहा जाता कि ये मोक्षदाता किसी को बन्धन नहीं दे सकते ?

गुरुदेव ! नरक की बात रह गयी, किन्तु इन विराट् प्रभु में मुझे तो कहीं नरक दीखता नहीं। आप इन्हें एकबार फिर चरणों से मस्तक तक देख जाय, कहीं उसमें नरक है और उनमें किसी में बलि के लिए स्थान बनाने का कोई प्रयत्न हो रहा है ?

गुरुदेव ! आप में बन्धन को देखते हैं, किन्तु कोई अपने कष्ट से प्राप्त धन को यों ही डाल रखता है ? बलि के मस्तक पर अपना तीसरा पद रखकर अभी-अभी इन्होंने बलि के इस शरीर को धन के रूप में, तृतीय पद भूमि के रूप में लिया है या नहीं ? इस प्रकार इतने कौशल से, इतने श्रम से पाये अपने धन को ये बाँधेंगे नहीं ? इसे कहीं बहुत सुरक्षित रखने का स्थान इन्होंने सोच लिया होगा। नरक क्या ऐसा सुरक्षित स्थान है ?

लेकिन गुरुदेव ! धन लेने वाला, धन को बाँधने वाला स्वयं उससे मुक्त रहता है या उसके साथ बाँध जाता है ? इन्होंने बलि को बाँधा है तो ये बलि के साथ बाँधे या नहीं ? गुरुदेव ! यह बलि की विजय नहीं है ?

आकाश से बलि के ऊपर पुष्प वर्षा हो रही थी। शुक्राचार्य स्तब्ध, मुग्ध नेत्र इस अति अलौकिक शिष्य को देख रहे थे। भगवान् त्रिविक्रम के नेत्रों के वात्सल्य और अधरों पर आये मन्द स्मित को पता नहीं किसी ने देखा या नहीं।

पाठ

मैं आज यह विवरण लिखने बैठा हूँ। क्यों बैठा हूँ ? इसका एक ही उत्तर है कि यह उस महाशक्ति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का एक प्रयत्न है, जिसने मुझे इस योग्य बनाया है कि मैं आज यह विवरण लिख सकता हूँ। अन्यथा

इस विवरण को लिखने का कोई प्रयोजना मुझे दीख नहीं रहा है—न अपने लिए, न किसी और के लिए।

एक ग्रामीण कृषक का पुत्र। आप उसे अशिक्षित भले न कहें, सुशिक्षित वह नहीं था। अवश्य ही जन-गणना अधिकारी शिक्षा वाले कोष्ठक में उसके नाम के सम्मुख भी कुछ लिख सकते थे, मात्र इतना ही। कोई प्रमाणपत्र उसके समीप किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने का नहीं। मातृभाषा की प्रारम्भिक शिक्षा को शिक्षा कहने से आपका संतोष होता हो तो आप संतुष्ट अवश्य हो सकते हैं।

बात आज की नहीं है। वैसे आज भी कंगाल की संतति न शिक्षा पाने की अधिकारिणी है और न ठीक रीति से चिकित्सा प्राप्त करने की। रसरहित शिलाओं के मध्य भी कुछ तृण-तरुओं को बढ़ते-पनपते मैंने देखा है। विधाता का विधान जिसे जीवन-पोषण देना चाहता है, झंझा के प्रचण्ड थपेड़े भी उसका उन्मूलन नहीं कर पाते। केवल वृक्ष-तृण-वीरुधों के लिए ही यह सत्य नहीं है, यह सत्य सभी प्राणियों के लिए है। वह स्वयं इस सत्य के प्रतीक रूप में ही जीवित था। अन्यथा निर्धन, एकाकी, अनाश्रित और उस पर भी जिसने झुकना न सीखा हो, संसार के निष्ठुर थपेड़े उसे अवश्य तोड़ फेंकते।

धन नहीं, स्वजन नहीं, उपार्जन नहीं और गर्व—भले कोई उसे आत्माभिमान कह ले, अन्य का आश्रय लेने नहीं दे तो क्या होगा? वही सब जो ऐसी अवस्था में सम्भाव्य है, हुआ।

‘तुम मुझे नहीं पढ़ाते? अच्छी बात! मैं तुम्हें पढ़ाकर दिखा दूँगा।’ इस चर्चा में जो उद्धत गर्व है, उसे आप स्पष्ट देख सकते हैं।

पढ़ने की बहुत रुचि। किंतु साधन तो नहीं ही थे, समझ भी नहीं थी—यही कहना चाहिये; क्योंकि कोई प्रारम्भिक शिक्षा भी प्राप्त न किये हो और उस विषय का उच्चतम ग्रन्थ ही पढ़ना चाहें तो उसमें समझ है, ऐसा आप मानेंगे?

उसने महाग्रन्थ पढ़ने की अभिलाशा की थी। एक विद्वान से मित्रता थी। कहना यह चाहिये कि वे उस पर अनुकम्पा करते थे। स्वाभाविक था कि पढ़ाने की प्रार्थना पर विद्वान् यही सम्मति देते—‘शिक्षा का प्रारम्भ व्याकरण की सामान्य पुस्तक से कीजिये! धीरे-धीरे कुछ समय के श्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ भी आप पढ़ सकेंगे।’

‘मुझे तो यही पढ़ना है।’ कोई बालक ऐसा हठ करे, आपके समीप क्या उपाय है? किसी विज्ञान की आठवीं कक्षा के विद्यार्थी को आप परमाणु-विज्ञान अथवा आइन्सटीन सिद्धान्त पढ़ा सकेंगे?

‘अभी तो यह ग्रन्थ मैं नहीं पढ़ा पाऊँगा।’ इस उत्तर में कहीं अशिष्टता, उपेक्षा दीखती है आपको? कहा तो यह जाना चाहिये था कि ‘तुम अभी इसे पढ़ने-समझने योग्य नहीं हो।’

उसका उद्धत ‘अहं’ वह अत्यन्त शिष्ट अस्वीकृति भी सहन करने को प्रस्तुत नहीं था। उसकी उत्तेजना—एक साधन एवं समझ से रहित की उत्तेजना का क्या अर्थ है? उसकी उत्तेजना पर लोग हँस दें, इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है।

★

★

★

बात समाप्त नहीं हुई। बात समाप्त ही हो गयी होती तो यह विवरण ही क्यों लिखा जाता। सामान्यतः असमर्थ, साधनहीन की उत्तेजना पर लोग हँस देते हैं और बात समाप्त हो जाती है। वह कुछ दूसरी धातु से बना है। कुछ ऐसी धातु से, जिससे वे पौधे बनते हैं जो मरुस्थल में चट्टानों के—तपती चट्टानों के मध्य उगकर भी बढ़ते ही जाते हैं। जो लू में झुलसते नहीं और अन्धड़ में टूटते नहीं।

‘मैं तुम्हें इसका पाठ सुनाऊँगा। तुम मुझे इसे पढ़ा देना।’ किसी से पूछना-सीखना तो उसके स्वभाव में ही नहीं। मनमानी विधि और उससे मनमाना फल चाहना—सर्वथा असंगत बात है; किन्तु किसी का यह स्वभाव ही हो गया हो तो आप उसका क्या कर लेंगे? आप उसकी सफलता-असफलता के कोई ठेकेदार हैं?

कहीं से वह एक छोटा-सा चित्र ले आया था। चित्र श्रीकृष्ण का था और वह उस चित्र में जो चित्रित था, उससे—निश्चय ही उससे एक अनुबन्ध कर रहा था। चित्र से अनुबन्ध नहीं किया जा सकता, इतनी समझ उसमें थी। अब आप पूछें कि चित्र में जो चित्रित था, उसने ऐसे किसी अनुबन्ध की इच्छा की थी? उसे ऐसे किसी सौदे की आवश्यकता थी? उसने स्वीकृति दी इस अनुबन्ध को? इस सबकी उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। उसने अनुबन्ध सुनाया और मान लिया कि वह पक्का हो गया।

आप बुद्धिमान् हैं, विद्वान् हैं, शास्त्रज्ञ हैं। आपसे कोई ऐसा अनुबन्ध

करने आये तो उसे फटकारकर भगा देंगे, यह ठीक है। आप ऐसे अनुबन्ध की एकपक्षीयता के कारण उसे सर्वथा अनुचित मान लें, यह योग्य ही है। किंतु आप कदाचित् नहीं जानते कि गोप का बालक इतना चतुर, इतना विद्वान् नहीं हुआ करता। बाबा नन्द का लड़का इस सम्बन्ध में बहुत भोला है। उससे कोई अनुबन्ध—नहीं, वह कहाँ मिलेगा कि आप उससे अनुबन्ध करेंगे। उसको देखा किसने है कि उसका वास्तविक चित्र या मूर्ति बनेगी। किसी चित्र, किसी मूर्ति को आपका मन मान ले कि वह उसका चित्र या मूर्ति है—वह झट 'हाँ' कर देगा। आप कहिये—'यह तू है।' वह यशोदा का लाड़ला इतना सरल है कि झट कह देगा—'हाँ' यह मैं हूँ।'

अनुबन्ध की बात—उस भोले बालक से अनुबन्ध कर लेना क्या कठिन है। किसी चित्र-मूर्ति के साथ आप अनुबन्ध कर लें। आपका मन पक्का तो अनुबन्ध पक्का।

‘यह अनुबन्ध मैंने किया तेरे साथ। स्वीकार है तुझे?’

यह भी पूछने की आवश्यकता कहाँ है। आपने स्वीकार किया तो उसे लगता है कि उसको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अस्वीकार करना उसे केवल तब आता है, जब अस्वीकृति में आपका सिर हिलता है। कहा न कि वह बालक है—बहुत भोला गोप-बालक, अतः उसे तो केवल अनुकृति आती है। वह आपका अनुकरण मात्र करता है।

उसने उस चित्र में जो चित्रित था, उससे अनुबन्ध कर लिया। उसने अनुबन्ध कर लिया, अतः अनुबन्ध तो हो गया। पक्का था वह, अतः अनुबन्ध भी पक्का। उसे आवश्यकता थी पढ़ने की, पाठ सुनने वाले को आवश्यकता थी सुनने की या नहीं, यह उसने नहीं सोचा। क्या यह सोचना अनावश्यक नहीं है?

महाग्रन्थ का पाठ—एक अध्याय को सामान्य स्वर से, शीघ्र गति से चार-छः मिनट में पढ़कर सुना देना उसने प्रारम्भ किया उस दिन से। बस, पढ़कर सुना देना—सुना देने का ही तो उसने अनुबन्ध किया था। पढ़ा देने का काम तो पाठ सुनने वाले का था। दूसरे के कर्तव्य का भार वह अपने सिर क्यों ले? उसने पाठ किया और ग्रन्थ बंद करके धर दिया। वह अर्थ समझकर पाठ करे, पीछे टीका, व्याख्या देखे, पीछे समझने का प्रयत्न करे—क्यों करें यह सब? यही सब वह करे तो पढ़ाने वाला क्या करेगा? उसने यह सब कभी नहीं किया।

आपको कोई ऐसा छात्र मिल जाय तो? डरिये मत! ऐसा छात्र अपने योग्य शिक्षक ढूँढ़ लेता है। जैसा गर्विष्ठ, अनुत्तरदायी छात्र, वैसा ही निपट सरल शिक्षक। वह पाठ तो अब भी सुनाता ही जाता है।

‘मैं पाठ कहाँ करता हूँ। एक बार किसी ने उससे उसके नित्य पाठ-प्रयोजन-फल तथा पाठ करने की विधि पूछी तो बोला—‘मुझे पाठ करने की विधि क्यों चाहिये? मैं तो पाठ सुनाता हूँ। पाठ की कोई विधि है तो सुनने वाला उसे कर लिया करेगा।

उसके पाठ सुनने वाले के लिए कोई विधि कहीं आपको मिली है?

★

★

★

पाठ स्थिर बैठकर, बिना सिर या शरीर हिलाये, स्पष्टोच्चारणपूर्वक किया जाना चाहिये। मौन पाठ, गाकर पाठ, सिर हिलाकर पाठ, अर्थ न समझकर पाठ, अशुद्ध पाठ, आतुरतापूर्वक या उपेक्षा से पाठ—ये दोष हैं पाठ करने की ये बातें उसे बहुत पीछे ज्ञात हुईं। वैसे वह पाठ सुनाता है, अतः स्थिर बैठकर, स्पष्ट उच्चारण करके सुनाता है। मौन पाठ करेगा तो सुनायेगा कैसे? गायन उसे आता नहीं और पाठ सुनाना है तो शुद्ध पढ़ना चाहिये। अवश्य अर्थ समझने की उसने चिन्ता नहीं की। अर्थ पाठ सुनने वाला समझ ले, यह क्या पर्याप्त नहीं है?

‘मेरे आचार्य जी यह ग्रन्थ पढ़ा नहीं पाते। आप क्या पढ़ा देंगे मुझे? एक दिन एक विद्यार्थी आ गया उसके समीप। उच्च कक्षा का एक ग्रन्थ था उसके हाथ में। पता नहीं क्यों विद्यार्थी ने उसे विद्वान् समझ लिया था।

‘कल से आइये पढ़ा दूँगा।’ बिना हिचके उसने विद्यार्थी को समय दे दिया। जो ग्रन्थ आचार्य नहीं पढ़ा पाते, उसे वह कैसे पढ़ा देगा? उसने तो उस देवभाषा का कभी श्री गणेश भी नहीं जाना। किन्तु यह सब उसने सोचना आवश्यक नहीं समझा।

‘मैं तुझे वर्ष भर से पाठ सुना रहा हूँ और तू मुझे इतना भी नहीं पढ़ सका कि यह जरा-सी पुस्तक मैं इसे पढ़ दूँ?’ बड़ी झल्लाहट—बड़ा क्रोध अन्तर में उबला।

जिसे परीक्षा देना था, वह विद्यार्थी तो पढ़ने आता ही। पुस्तक लेकर वह समय से कुछ पहले आ धमका था। पुस्तक हाथ में ली और खोलकर देखी। कुछ समझ में नहीं आया तो वह झल्ला उठा। नेत्र बन्द करके वह मन-ही-

मन बिगड़ा—यह कोई बात है कि वह वर्ष भर से एक अनुबन्ध का दृढ़ता से पालन कर रहा है और दूसरा उसके अपने अंश का पालन न करें! उनका क्रोध अनुचित था, यह कोई कह कैसे देगा।

‘अरे!’ उसने दो क्षण में नेत्र खोले। उसी झल्लाहट में ही उस पुस्तक के खुले पृष्ठ पर दृष्टि गयी और वह चौंक गया। उसने जिससे अनुबन्ध किया है, उसने अपने कर्तव्य-पालन में तो कहीं भी शिथिलता नहीं की है। व्यर्थ ही उस पर रुष्ट हो रहा था। यह पुस्तक तो वह बड़ी सरलता से पढ़ सकता है। पुस्तक पढ़ाने में जुट गया वह। मत कहिये कि उसने पढ़ा नहीं। उसको पढ़ाने वाला अद्भुत है, केवल यह आप कह सकते हैं।

*

*

*

‘रामायण, गीता, भागवत तो कल्पवृक्ष हैं! एक महापुरुष ने एक बार कहा—‘ये ग्रन्थ नहीं हैं। ये तो भगवान् के साक्षात् स्वरूप हैं। उनका वाङ्मय श्रीविग्रह इन रूपों में हैं। जो जिस इच्छा से इनका आश्रय लेता है, उसकी वह इच्छा इनसे पूर्ण होती है।’

इस विवरण के संदर्भ में महापुरुष का यह वाक्य सहज स्मरण हो आया। कल्पवृक्ष का आश्रय—अच्छा, उसने कल्पवृक्ष का आश्रय लिया तो आपके लिए भी तो वह कल्पवृक्ष अलभ्य नहीं है।

हम सीख सकते हैं

चीन के वे पतले और दुर्गम मार्ग अपनी भयङ्करता के लिए प्रसिद्ध हैं। एक ओर मीलों नीच खड्डा और दूसरी ओर सीधे गगनचुम्बी पर्वत। बस, यह चीनी कुलियों के बस का ही है कि बड़े-बड़े चाय के गट्टर लिए वे उस मार्ग से पार हो जाते हैं। तनिक-सा पैर हिला और खड्डे में अस्थिरों का भी पता नहीं रहेगा। साधारण मनुष्य तो भय से ही गिर जायेगा। इन मार्गों में बीच से लौटना तो सम्भव ही नहीं। इतना स्थान नहीं कि कोई घूम सके, बेचारे कुली भी पर्वत पर से बर्फ गिरने के कारण प्रतिवर्ष बहुत से मरते हैं। पर उन्हें तो उस मार्ग से जाना ही पड़ता है। पापी पेट साथ जो ठहरा।

मि० राबर्ट शिकार के बड़े व्यसनी थे। वे चीन में अभी-अभी ही आये थे। जङ्गल में रस्सी, बन्दूक, दूरबीन आदि आवश्यक सामग्री लेकर गये।

एक उपरोक्त प्रकार के दुर्गम मार्ग के पास पहुँचकर रुक गये। उस पार रीछ बहुत थे। इनका शिकार खेलना था। मार्ग से पार जाने की युक्ति समझ में न आयी। दूरबीन उठाकर मार्ग को देखने लगे। मार्ग के उस ओर से एक रीछ आ रहा था। ये अपनी बन्दूक सम्हालकर एक ओर हटकर देखने लगे।

इसी समय इस ओर से भी एक रीछ उसी मार्ग से चला। आरम्भ में मार्ग कुछ मुड़ता था, अतः उन दोनों ने एक दूसरे को देखा नहीं। मि० राबर्ट ने सोचा ‘अवश्य ये दोनों एक दूसरे से झगड़ा कर खड्डे में गिरेंगे।’ इधर से जाने वाला रीछ बड़ा था, और उधर से आने वाला छोटा। पर मार्ग छोटे रीछ ने अधिक पार कर लिया था। दोनों एक दूसरे के सामने पहुँच कर शान्त खड़े हो गये बड़े रीछ ने कुछ बड़बड़ाकर कहा और धीरे से उसी मार्ग में लेट गया। छोटा रीछ उसके शरीर पर से आगे बढ़ा। उसके पार हो जाने पर दूसरे ने भी अपना मार्ग लिया। शिकारी पर पशुओं के इस सौजन्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह चुपचाप बन्दूक लेकर लौटा आया।

मध्यप्रदेश के वनों में प्रायः बाघ और चीते मिलते हैं। जङ्गली वाराह तो वहाँ चाहे जब देखे जा सकते हैं। इतने पर भी वहाँ के गोपालों को वन में निर्द्वन्द्व पशु चराते आप पायेंगे। इसका कारण है, वे अपने पालते पशुओं की स्वामिभक्ति के कारण वन में भयङ्कर पशुओं से निर्भय होते हैं।

मध्य प्रदेश की भैंसों के सींग प्रसिद्ध हैं। उधर छोटी सींग की भैंसें होती ही नहीं। उनके सींग सीधे टेढ़े दोनों ओर फैले होते हैं। परस्पर लड़ाई होने पर सींग बहुधा टूटते हैं। कभी-कभी परस्पर उलझ भी जाते हैं।

पिछले दिनों एक ग्वाला अपने पशुओं के साथ वन से सन्ध्या को लौट रहा था। कहीं से बाघ की आहट मिली, पशु अपने आप एकत्र हो गये। ग्वाला अपने बड़े भैंसे पर बैठ गया। भैंसों ने उस भैंसे को बीच में कर लिया। भैंसे की ओर पीठ और बाहर की ओर मुख, इस प्रकार पशुओं ने एक वृत्त बना लिया। बाघ सम्भवतः भूखा, उसने प्राणपर खेलकर आक्रमण किया। वह उछलकर बीच से ग्वाले को ले जाना चाहता था।

बाघ उछला, भैंसा हट गया। उसी क्षण पशुओं का व्यूह उलट गया। पीठ बाहर और मुख भीतर। एक साथ सैकड़ों तीक्ष्ण सींग बाघ के शरीर में घुस गये। न वह तड़प सका, न हिल सका, बस वहीं समाप्त हो गया।

बगीचा पास था, बगीचे में बन्दरों का निवास था। वैसे बन्दर ग्राम में भी दिन भर ऊधम मचाते रहते थे। कुएँ के पास तो उनका जमघट लगा ही रहता था। गर्मी के दिन थे, पानी एवं शीतलता यहीं प्राप्त होती थी। इसी कुएँ का जल अच्छा था, अतः ग्रामीण स्त्रियाँ यहीं से जल ले जाती थीं।

छोटे बच्चे सभी के ऊधमी होते हैं, फिर बन्दरों के तो वृद्ध भी ऊधमी होते हैं। बच्चों की क्या चर्चा। उछल-कूद में एक बच्चा कुएँ में गिर गया। पास के बन्दर चीखने लगे। चीख सुनते ही आस-पास के सब बन्दर दौड़ आये। कुएँ के चारों ओर एकत्र होकर उन्होंने झाँककर देखा, बच्चा जल पर तैर रहा था। वे एक क्षण तक केवल चीखते और झाँकते रहे।

सहसा एक बन्दर जो कि सबमें बलवान् था, कुएँ के ऊपर लगे खम्भे को हाथों से पकड़कर कुएँ में लटक गया। दूसरा बन्दर उसके ऊपर से गया और उसके पिछले पैर को कमर के पास से पकड़कर लटका। फिर तो क्रम बँध गया, एक दूसरे के ऊपर से जाकर वे लटकते गये। पंक्ति जल तक पहुँची, अन्तिम बन्दर बच्चे को लेकर उस पंक्ति पर से ऊपर आ गया। फिर नीचे से वे क्रमशः ऊपर आने लगे और सब ऊपर आ गये।

नेवले की बुद्धिमत्ता तो नहीं, पर स्वामि-भक्ति प्रसिद्ध है। उसे लोग इसलिए नहीं पालते कि वह स्वामी के अप्रसन्न होते ही आत्महत्या कर लेता है। स्वामी के अप्रसन्न होते ही वह अपने शरीर को रखने योग्य नहीं समझता। कुत्तों को स्वामि-भक्ति के साथ बुद्धिमानी भी प्रसिद्ध है। वे अपराधियों का पता लगाते हैं, संस्थाओं के लिए चन्दा करते हैं और भी पाश्चात्य लोग उनसे बहुत से काम लेते हैं।

घर की रखवाली तो कुत्ते हमारे देश में भी करते हैं। सहस्रों की भीड़ में अपने स्वामी को पहचानने में ग्रामसिंह को कोई कष्ट नहीं होता। वह सूँघकर अपने पोषक को पहचान लेता है। इसके अतिरिक्त उसमें आश्चर्यजनक त्याग एवं सहनशीलता होती है। वह स्वामी के लिए सरलता से शरीर त्याग कर सकता है।

अफ्रीका के जङ्गल में एक मजदूर लकड़ी काटने गया। मजदूर ने एक पेड़ के नीचे दोपहर को भोजन के लिए लायी रोटियाँ रख दी और अपने कुत्ते को उनकी रक्षा के लिए छोड़ दिया। दूसरे पशु भी रक्षक के अभाव में रोटियाँ ले जा सकते थे। मजदूर जङ्गल में दूर काम-योग्य लकड़ी ढूँढ़ने चला गया।

वनों के अन्वेषक जोन्स महाशय घूमते हुए उधर पहुँचे। जब वे उस कुत्ते के पास पहुँचे तो उस वन की ओर आती हुई दावाग्नि उन्होंने देखी। कुत्ते को डराकर भगा देने की उन्होंने चेष्टा की, पर वह अपने स्थान से हटा नहीं। विवश होकर वे मजदूर को समाचार देने आगे बढ़े। बड़ी देर में दूर जाकर तो वह मजदूर उन्हें मिला। समाचार पाते ही वह दौड़ा। चीड़ का वन इतनी देर में जल भी चुका था। मजदूर को चिन्ता करते देख जोन्स महाशय ने कहा रोटियों के लिए चिन्ता मत करो, मेरे पास हैं। मैं तुम्हें दे दूँगा।' वह बोला 'महोदय! मुझे रोटियों की चिन्ता' नहीं। मेरा कुत्ता जल गया। मेरी आज्ञा के बिना वह उस स्थान से हटा भी नहीं होगा।' दूसरे दिन देखा गया कि ठीक उसी स्थान पर कुत्ते के शरीर की भस्म है। स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए उसने बिना हिले-डुले अपनी आहुति दे दी थी।

हम अपने को सभ्य मनुष्य कहते हैं। पर हम एक दूसरे के रक्त के पिपासु रहते हैं, भाई-भाई में ही मतैक्य नहीं। स्वामी को धोखा देने की तो सोचते ही रहते हैं। उस जगत् के स्वामी के लिए हम थोड़ा भी कष्ट उठाना नहीं चाहते। चाहें तो परस्पर सौहार्द, मैत्री, सहयोग, सङ्गठन, त्याग और स्वामि-भक्ति के उच्च आदर्श के रूप में यह बातें पशुओं से हम सीख सकते हैं।

रक्षक के लम्बे हाथ

सन् 1970 की 20 जुलाई को अलकनन्दा में जो बाढ़ आयी, वह इतिहास की की प्रसिद्ध बाढ़ों में गिनी जायगी। बट्टीनाथ-मार्ग के तीन बड़े और दस छोटे पुल बह गये। पूरे 65 मील की सड़क ध्वस्त हो गयी। 30 बस, ट्रक एवं कारें धारा में बह गयीं। कई गाँव लुप्त हो गये। अलकनन्दा का जल कुछ स्थानों पर 65 फुट ऊँचा उठ गया था। घटना इसी बाढ़ की है और बेलाकूची नामक उस स्थान की है, जहाँ सबसे अधिक ध्वंस हुआ। सब मोटरें वहीं बही हैं।

बसों, टैक्सियाँ, करें, ट्रकें, खड़ी थीं। सड़क बन्द होने से सब रूकी हुई थीं। यात्री घूम-टहल रहे थे, खा-पी रहे थे या बैठे थे। सहसा अलकनन्दा-का पानी बढ़ने लगा। मिनटों में फुटों बढ़ रहा था। चिल्लाहट मची और लोग भागे। सड़क से ऊपर पुलिस चौकी, पाठशाला आदि में शरण ली सबने। इतने में पुल बह गया और मोटरें बह गयीं। पानी ऊपर बढ़ता चला गया है।

लोग जिन गृहों में थे, उनसे भी ऊपर जाने का बाध्य हुए।

दिन डूब गया था। रात्रि का अन्धकार, घोर वर्षा, किन्तु बार-बार बिजली चमक रही थी। सीधे खड़े पहाड़ पर भीगते हुए पत्थर और वृक्षों की जड़ें पकड़कर ऊपर चढ़ना था। लोगों को जिधर सूझा उधर चढ़ने लगे। अधिक लोग एक ओर चढ़े। रात भर पत्थरों से चिपके भीगते रहे और सबेरे किसी प्रकार पर्वत के ऊपर से बिना रास्ते चलकर पीपलकोटी आये।

एक सज्जन सपत्नीक यात्रा करने गये थे। पत्नी की गोद में दूध पीता बच्चा था। बसों और टैक्सियाँ बट्टीनाथ तक जाती हैं—अतः ऐसे लोग भी मजे से यात्रा करते हैं। बेलाकूची में वह गाड़ी बह गयी जिससे वे यात्रा कर रहे थे। विपत्ति आयी तो वे पत्नी-बच्चे को छोड़कर पहाड़ पर चढ़ने लगे।

पत्नी चिल्लाई 'मैं बच्चे को लेकर नहीं चढ़ पाती हूँ।'

बात ठीक थी। बच्चे को गोद में लेकर खड़े पहाड़ पर कोई नहीं चढ़ सकता था। पत्थर और जड़ें पकड़कर पेट के बल सरक कर घोर वर्षा में फिसलने से बचकर चढ़ना था।

अलकनन्दा का जल बढ़ता आ रहा था। पति का साहस नीचे आने का नहीं था उन्होंने चिल्लाकर कहा—'बच्चे को छोड़ दे और चली आ।'

प्राण का मोह बहुत बड़ा होता है। माँ ने बच्चे को एक पत्थर पर धर दिया और ऊपर चढ़ने लगी। दुर्भाग्य—जिस पर्वत पर वे दम्पति चढ़ रहे थे, वह पूरा पर्वत फिसलकर गिर पड़ा। उसी पर्वत ने बेलाकूची गाँव को नष्ट किया। वे दोनों मारे गये। तीन दिन पीछे सेना के जवान बेलाकूची के स्थान पर पहुँचे। वे मार्ग बनाने और दबी लाशें निकालने लगे। उन्हें वह बच्चा अपने पैर का अँगूठा मुख में लेकर चूसता, जीता, स्वस्थ, प्रसन्न मिला।

हुआ यह था कि पर्वत की दो बड़ी शिलाएँ बच्चे के दोनों ओर गिरीं और एक छोटा तम्बू बन गया। पर्वत की मिट्टी-पत्थर से वह तम्बू इतना पक्का ढक गया कि अलकनन्दा के प्रबल प्रवाह में डूबने पर भी उसमें पानी घुस नहीं सका। पानी की धार बहती रही ऊपर से कई घण्टे।

यहाँ तक आप संयोग कह सकते हैं; किन्तु तीन दिन, तीन रात उस दुधमुहें बालक के मुख में एक बूँद पानी नहीं गया। वह धारा के जल में कई घण्टे डूबा रहा। स्वस्थ सबल व्यक्ति भी बिना जल के तीन दिनों में अधमरा

हो जाता है और वह शिशु रोता भी नहीं था। मजे से अँगूठा चूसते मिला।

उसी स्थान की, उसी समय की उससे भी आश्चर्यजनक घटना है। एक बहुत मोटी अर्धेड़ स्त्री सबसे पहिले इस दुर्घटना के बाद चमोली पहुँची। उनका कहना है—'पुल बह गया। मोटरें बह गयीं। गंगा का जल आँधी के समान बढ़ता आता था। अँधेरा हो गया था। घोर वर्षा हो रही थी। लोग भोगते हुए पहाड़ पर चढ़ने लगे। मैं सड़क पर भी कठिनाई से चलती हूँ। फिसलन भरे खड़े पहाड़ का देखकर ही हार गयी। चढ़ने का मन भी करती तो गिरकर, हाथ-पैर तोड़कर गंगा में गिरती। सबको अपने प्राणों की पड़ी थी। मेरी ओर कौन देखता। मैं एक पत्थर पर बैठ गयी कि मरना तो है ही। भगवान् का नाम लेने लगी। गंगा का पानी मुझे पाँच-छः मिनट में ले जायगा, यह बात पक्की थी।'

'अचानक एक लड़का भीगता हुआ आया। बिजली चमकी तो मैंने इतना देखा कि वह काले रंगा का है उसने कहा—'माताजी, उठो! मैं तुम्हें ले चलता हूँ। उसने हाथ पकड़ा। मैं उठकर चलने लगी; किन्तु मेरे नेत्र उसके हाथ पकड़ते ही बन्द हो गये। कितनी देर चली, पता नहीं। लगा कि मैं बराबर रास्ते पर चलती गयी। अचानक लड़के ने हाथ छोड़ दिया। मैंने नेत्र खोले तो वह वहाँ नहीं था और मैं पीपलकोटी में खड़ी थी। वहाँ से चमोली का पैदल रास्ता अच्छा है, अतः मैं पैदल चमोली आ गयी।'

वहाँ कोई मार्ग था ही नहीं, वहाँ समतल मार्ग पर चलने का भ्रम मन में उत्पन्न करके और हाथ पकड़कर उसे पीपलकोटी तक पहुँचाने वाला लड़का कौन होगा—आप अपने चित्त से पूछ लीजिये।

दही खाऊंगा

'अरे, वहाँ क्या उठा-पटक कर रहा है?' इस गोपी को आश्चर्य है कि नन्दनन्दन इस प्रकार इसके सम्मुख ही घर में घुस आया है और बिना पूछे, बिना संकोच आँगन के पात्रों को इधर से उधर खिसका रहा है।

नन्हा श्यामसुन्दर, अभी कठिनाई से ढाई वर्ष का दिगम्बर तो है ही, सबेरे-सबेरे भागा आया है। अभी मैया ने इसे न स्नान कराया है और न अलकें सँवारी हैं। कपोलों तक कज्जल फैला है। घुघराली अलकें बिखरी हैं।

यह पता नहीं किस धुन में हैं। बड़े मटके इससे हटते नहीं। जो छोटे खाली

घट हटते भी हैं, उन्हें दोनों हाथों से किसी प्रकार इधर से उधर खिसकाने में इसका कमलमुख लाल-लाल हो उठता है। लेकिन यह कर क्या रहा है?

‘तू यहाँ क्यों आई?’ कन्हाई ने उलटे गोपी की ओर देखा और हाथ की मुट्ठी दिखा दी। अभी यह अपनी धुन में हैं।

‘तू यह उठापटक घर करना।’ गोपी हँस पड़ी लेकिन इस सुकुमार को इतना श्रम करते देखा नहीं जा सकता। ‘क्यों कर रहा है यह सब?’

गोपी की बात अधूरी रह गयी। उसके गोरस-गृह में झट मोहन भागकर घुसा और दूसरे ही क्षण वहाँ भड़ाम् हो गया। गोपी भागकर पहुँची—‘यह क्या किया तूने?’

‘तूने ही तो कहा था।’ कन्हाई दही की छोटी दहेँड़ी पटक कर खड़ा हो गया है। दहेँड़ी के टुकड़े बिखरे हैं और दही भूमि पर तो फैला ही है, इसके पैरों को भी उज्ज्वल बना रहा है।

‘मैंने क्या कहा था?’ गोपी ने नेत्र कड़े किये।

‘तूने नहीं कहा था’ कन्हाई बिना हिचके बोल रहा है—‘घर में उठाकर पटक।’ ‘मैंने कोई अपने घर में करने को कहा था?’ गोपी बड़ी कठिनाई से हँसी रोक पा रही है।

‘घर में ही तो कहा था।’ श्याम कहाँ अभी अपना-पराया समझ पाता है।

‘तू ऊधम करता है तो अब मार खायागा।’ गोपी डाँटने पर ही उतारू लगती है। ‘वह तू खा लेना।’ कन्हाई वहीं फैले दही के मध्य पालथी लगाकर बैठ गया—‘मैं तो दही खाऊँगा।’ ‘क्या?’ अब गोपी की हँसी फूट पड़ी है।

‘वही मार, भार, छार पता नहीं क्या।’ भोलेपन से श्याम ने दही मुख में डालते कहा—‘जो तू कह रही थी। तुझे मीठा लगता है तो वह भर पेट तू खाले।’

इस दही का भोग लगाते नन्हें नन्दलाल को अधिक अवकाश नहीं। गोपी इतनी लम्बी-तड़ंगी है तो स्वयं क्यों नहीं समझ लेती कि उसे क्या खा लेना है।

थूक का दलदल

रमते राम महात्मा थे। एक कमण्डलु, छोटा-सा बिस्तर। मन लगा, पड़े रहे। मन उचटा तो बिस्तरा समेट कन्धे से लटकाया, कमण्डलु उठाया और चल खड़े हुए। हर सूना मन्दिर उनकी कुटिया। हर वृक्ष उनका तम्बू। हर

गाँव के घरों की रोटी उनकी प्रतीक्षा करती।

एक आश्रम में ठहर गये। कफ आया एक ओर थूक दिया। आश्रम के व्यवस्थापक ने देखा तो बिगड़ा—‘चाहे जहाँ थूकना हो तो अपनी कुटिया बनवाओ!’ बात लग गयी। श्रद्धालुओं से कह-कहाकर भूमि ली। ईंट के गधे गिने, कारीगर-मजदूरों से झगड़े। कुटिया बन गयी। गर्मी आयी। उत्तराखण्ड जाने की इच्छा हुई। कुटिया पर रहे ऐसा साधू ढूँढ़ रहे थे। किसी ने पूछा—‘आप इस बन्धन में कैसे फँसे?’

‘थूक की दलदल में फँस गया।’ महात्मा बोले—‘दो क्षण-दो कड़ी बात सही नहीं गयी, अब अपनेपने का लक्कड़ गले में अटक गया।’

दुःख का आशीर्वाद

राम वन जाने के लिये जब सबसे विदा ले चुके तो अन्त में आशीर्वाद लेने के लिए गुरु वशिष्ठ जी के पास गये। वशिष्ठ जी ने कहा—“श्रीराम, यदि वन जाने के लिये तुम्हारा मन न हो तो निःशंकोच मुझसे कह दो, मैं स्वयं महारानी कैकेयी से कहकर यह आज्ञा रद्द करवा दूँगा।”

राम की आँखें छलछला आयीं। वशिष्ठ जी के चरणों में सिर नवाकर वे बोले, “क्षमा करें भगवन्, राम को सुख नहीं चाहिए। राम तो आज आपसे दुःख माँगने आया है। दुःख का आशीर्वाद दें।”

“दुःख क्यों, वत्स!”

राम ने कहा, “देव, इन श्रीचरणों की ही तो शिक्षा है कि सुख का देश योजनभर का है, लेकिन दुःख का देश है आकाश की तरह निःसीम है। मुझे योजनभर के देश का राजा बनना मान्य नहीं है। मैं सूर्यवंशी हूँ, पराक्रमी हूँ और आपका शिष्य हूँ, मुझे निःसीम देश का राज्य चाहिए।” राम की लगन में देश की सनातन-साधना को इस प्रकार फलीभूत होते देख मुनि वशिष्ठ का हृदय आनन्द विभोर हो उठा। राम को हृदय से लगाकर वे बोले, “जाओ वत्स, दुःख की खोज में जाओ। सीमाएँ ही नहीं, काल भी तुम्हें शीश नवायेगा।”



ग्रंथ सूची

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	पृ.सं.	मूल्य
1.	उन्मादिनी यशोदा	105	80.00
2.	शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा	-	40.00
3.	आञ्जनेय की आत्मकथा	268	160.00
4.	सांस्कृतिक कहानियाँ - भाग-1 से 6	560	150.00
5.	सांस्कृतिक कहानियाँ - भाग-7 से 12	548	150.00
6.	पार्थ सारथी	440	100.00
7.	भगवान वासुदेव	416	175.00
8.	द्वारिकाधीश	392	200.00
9.	नन्दनन्दन	590	125.00
10.	कर्म रहस्य	176	100.00
11.	रामचरित पूर्व खण्ड	647	260.00
12.	रामचरित उत्तर खण्ड	715	285.00
13.	राम श्याम की झांकी	192	100.00
14.	पलक झपकते	90	30.00
15.	आपकी चर्या	136	35.00
16.	कन्हई	202	151.00
17.	साध्य और साधन	332	150.00
18.	चिन्तन चिन्तामणि (गीता चिन्तन सहित)	204	125.00
19.	शिव चरित्र	142	175.00
20.	शिव स्मरण	64	8.00
21.	श्याम का स्वभाव	80	40.00
22.	हिन्दुओं के तीर्थस्थान	274	35.00
23.	श्रीचक्रचरितम्	500	150.00
24.	प्रभू आवत	-	120.00
25.	वे मिलेंगे	-	-
26.	राक्षसराज	128	120.00
27.	मानस के अनुष्ठान एवं हनुमत उपासना	65	35.00
28.	सखाओं के कन्हैया	174	100.00
29.	श्रीकृष्ण सर्वरूप	114	35.00
30.	आध्यात्मिक कहानियाँ	-	25.00
	(दस महाव्रत, नवधा भक्ति भाग-1, नवधा भक्ति भाग-2)		
31.	श्रीमद्भागवत पदच्छेद, अन्वय- एकादश स्कन्ध (नवम खण्ड) (प्रथम से दशम स्कन्ध तक उपलब्ध नहीं है।)	607	175.00
32.	श्रीमद्भागवत पदच्छेद, अन्वय- द्वादश स्कन्ध (दशम खण्ड)	555	160.00